अध्याय 1

लेखन कला का उद्भव एवं पुरातनता

भारतीय दृष्टिकोण सदा अध्यात्मवादी रहा है। किसी भी भौतिक कृति को जो थोड़ी भी आश्चर्यजनक होती है तथा जिसमें नवीनीकरण रहता है उसे दैवीय कृति ही माना जाता है। यही कारण है कि आदि ग्रन्थ वेद को अपौरुषेय कहा जाता है, वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ब्रह्मा से जोड़ी जाती है तथा भारतीय लिपि ब्राह्मी को ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताई जाती है। यह विचित्रता केवल भारतीय सभ्यता में ही नहीं दीख पड़ती वरन् दजला-फरात की घाटी में उद्‌भूत मेसोपोटामिया के विभिन्न केन्द्रों में प्रस्फुटित होने वाली सभी सभ्यताओं में तथा भूमध्य सागरीय सभ्यताओं में भी इसी प्रकार दिखाई पड़ती है। सम्भवतः इसी भावना से प्रभावित मध्य-एशियायी, मीड्स एवं पर्शियन सभ्यताओं में राजत्व के सिद्धान्त को दैवीय (डिवाइन राइट थियरी ऑव किंगशिप) स्वीकार किया गया है। इसका पुरातात्विक प्रमाण है बाबुलोनियाँ के प्रसिद्ध देवता मार्ड्क्य के मन्दिर के पास एक प्रस्तर-खण्ड जिस पर हम्मूरावी की विधान-संहिता उद्‌घृत है। इसके ऊपरी भाग पर एक आकृति अंकित है जिसमें हम्मूरावी सूर्य देवता शमस से यह विधान-संहिता ग्रहण कर रहा है।

भारतीय लेखन-कला के उद्भव के सम्बन्ध में भी भारतीय दृष्टिकोण कुछ इसी प्रकार का प्रतीत होता है। बादामी से ई० सं० 580 का एक प्रस्तर-खण्ड प्राप्त हुआ है जिसपर ब्रह्मा की आकृति बनी है। उनके हाथ में ताड़-पत्रों का एक समूह है। यह स्पष्ट पुरातात्त्विक प्रमाण है कि ब्राह्मा से ही लेखन-कला का सम्बन्ध जोड़ा गया है। ब्रह्मा आर्यों के देवता हैं। आर्यों के भारत में विस्तार के पूर्व जिसकी तिथि लगभग 1500 ई० पूर्व निर्धारित की जाती है यहाँ सिन्धु घाटी की विकसित सभ्यता विद्यमान थी। इस सभ्यता की तिथि सर जान मार्शल के अनुसार अनुमानतः 3000 ई० पूर्व स्वीकार की जाती है। इस सभ्यता के केन्द्रों के उत्खनन से प्राप्त मिट्टी की सीलों के ऊपर बनी कुछ आकृतियों को विद्वानों ने अक्षर स्वीकार किया है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृत विद्वानों ने तो इनके पढ़ने का बहुत कुछ प्रयास किया है। पर इसके सम्बन्ध में अभी कोई अन्तिम निर्णय नहीं बन पड़ा है, जो भी हो। स्पष्ट अक्षर के रूप में तो नहीं पर चीनी लिपि की तरह चित्रात्मक लिपि में ही सही, इस पुरातन युग में भारत के मूल निवासियों ने अपने मनोभावों को ठोस रूप देने का एक सफल प्रयास किया था, इतना तो हम मान ही सकते हैं। पुनः इसकी सम्भावना और भी पुष्ट हो जाती है जब हम सिन्धु घाटी की सभ्यता के समकालीन नील नदी की सभ्यताओं में अक्षरों का विकास देखते हैं।

किन्तु एक बात यहाँ विचारणीय है कि अल्बेरूनी नामक एक अरबी इतिहासकार ने कहा है कि पराशर के पहले भारतवासी लेखन-कला को भूल चुके थे। दैवयोग से पाराशर के पुत्र वेदव्यास ने कलियुग के प्रारम्भ में हिन्दू धर्म ग्रन्थों—वेद, महाभारत तथा पुराण आदि के संचयन एवं लेखन के लिये लेखन-कला का पुनरान्वेषण किया और तब से क्रमिक लेखन-कला का प्रचलन हुआ। यह बात सिन्धु घाटी और वैदिक साहित्य के बीच की अज्ञात कड़ी की ओर संकेत करती है। किन्तु अल्बेरुनी के अतिरिक्त किसी भी दूसरे स्रोत से ऐसी जानकारी नहीं मिलती। अतः यह कथन कितना

विश्वसनीय है नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस सम्बन्ध में यह विचार करना अत्यन्त समीचीन है कि लेखन-कला का उद्भव कब हुआ ? इस सम्बन्ध में अनेक भारतीय तथा विदेशी विचारकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। अतः इनके विवेचन के बाद ही तथ्यों के आधार पर इस प्रश्न का उचित हल प्राप्त हो सकता है।

विदेशी विचारधारा

प्रायः पश्चिमी विचारकों ने इस सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिससे इस क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। उन्होंने सामान्यतया यह व्यक्त किया है कि भारतीयों ने 600 ई॰ पू॰ के पहले लेखन-कला में कोई गति नहीं प्राप्त की थी। इसके पूर्व भारतीय, लेखन-कला से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। इस मत के संस्थापक तथा प्रतिस्थापक हैं— ब्यूलर, डेविड डिरिंजर आदि।

इस समस्या का अध्ययन सबसे पहले डॉ॰ मोक्सम्यूलर महोदय ने किया। संस्कृत साहित्य के इस ख्याति प्राप्त विद्वान ने यह मत प्रतिपादित किया है कि पाणिनि के पूर्व अर्थात् चौथी शताब्दी ई॰ के पहले, भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान नहीं था क्योंकि पाणिनि से एक भी ऐसा सूत्र प्राप्त नहीं है जो लेखन-कला का संकेत करता हो। इस सम्बन्ध में बर्नेल महोदय का विचार है कि ब्राह्मी आदि लिपि है, और इसका उद्भव फोयनीशियन लिपि से हुआ है। इस आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि भारतीय लेखन-कला की प्राचीनता चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले नहीं सिद्ध की जा सकती।

डॉ॰ डेबिड डिरिंजर के अनुसार ब्राह्मी भारत की आदि लिपि है। इसकी तिथि किसी उपलब्ध तर्क के आधार पर पाँचवीं शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले निर्धारित नहीं की जा सकती है। इनके विचार में सुदूर अतीत में लेखन के प्रति जनरुचि थी। इस विचार की पुष्टि के लिए आपने पाणिनीय शिक्षा के निम्नांकित श्लोक को आधार बनाया है—

गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित-पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥३२॥

इस श्लोक में पाठक के दोषों का विवेचन किया गया है, पर इसके साथ कहीं भी लेखक का वर्णन नहीं मिलता। इसलिए इनका विचार है कि लेखन-कला का विकास पीछे की देन है। पहले लोगों ने पढ़ना सीखा और फिर लिखना।

ब्यूलर महोदय ने भी इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया है। इनके अनुसार नारद-स्मृति तथा वृहस्पति-वर्तिका से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने लेखन-कला का अन्वेषण किया था। इनमें तर्क और प्रभावक प्रमाणों का अभाव देखकर पीछे उन्होंने इस परम्परा के स्थान पर प्रामाणिक धरातल पर इसका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। चीन के विश्वकोष **'फा-वान-शू-लिन'** में यह लिखा है कि ब्रह्मा ने एक विशिष्ट प्रकार की लिपि का अन्वेषण किया था जो बायीं से दाहिनी ओर लिखी जाती है। 'ललित विस्तर' में भी एक लिपि का उल्लेख है जिसे ब्राह्मी या बम्मी कहा गया है। इसी ग्रंथ में यह भी विवरण मिलता है कि बुद्ध के समय 64 कलाओं का विकास हो चुका था। पुनः पाणिनि के अष्टाध्यायी से यह ज्ञात होता है कि पाणिनि के पूर्व व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन 'यवनानिय' भाषा में होता था। ब्यूलर महोदय के अनुसार यवनानिय से अभिप्राय है यवनों अथवा ग्रीकों की भाषा। इनके साथ अन्य तथ्यों के आधार पर ब्यूलर महोदय का विचार है कि 500 ई॰ पूर्व॰ या

800 ई० पूर्व में ब्राह्मी लिपि को विकास में पूर्णता प्राप्त हो चुकी थी। आगे उन्होंने यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि नवीन आविष्कारों के आधार पर इसे 10वीं शताब्दी ई० पूर्व में भी मान सकते हैं।

आलोचना

पर विदेशी विचारकों का यह मत पूर्णतया भारतीय दृष्टिकोण से अमान्य है। इसलिए उपर्युक्त मतों का खण्डन बड़े ही समवेत स्वर में भारतीय विचारक डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा डॉ० ए० सी० दास आदि ने किया है।

ऊपर हमने डॉ० डिरिंजर के मत का प्रतिपादन करते हुए 'पाठक' शब्द के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त किया है। इससे जहाँ डिरिंजर महोदय जहाँ केवल पाठकों की स्थिति का अनुमान करते हैं वहीं 'लिखित' शब्द इस बात का द्योतक है कि पाठक लिखा हुआ पढ़ता था अथवा बोल-बोल कर लिखता था। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह तर्क बड़ा सटीक प्रतीत होता है। यहाँ इस श्लोक में गीती, शीघ्री, शिरः कम्पी, अनर्थज्ञ एवं अल्पकण्ठ आदि पाठकों के छः दोष बताये गये हैं। पाठक का अभिप्राय पढ़ने वाले से है। जब तक लिखने का प्रसंग नहीं होगा तब तक पढ़ने वाले का प्रसंग आना अस्वाभाविक है। अतएव निश्चित ही उस समय तक लेखन-कला का विकास हो गया होगा।

पुनः वर्नेल महोदय का यह विचार है कि भारतीय लिपि या लेखन-कला फोयनीशियन जाति की लेखन-कला का अनुकरण है, कुछ न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। डॉ० दास ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि भारत में लिखने के कौशल का विकास वेदों के समय से ही हो चुका था। महामहोपाध्याय पं० गौशीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी डॉ० दास के विचार का समर्थन किया है। उनके विचार में वेदों को श्रुति केवल इसलिए नहीं कहा जाता है कि इन्हें सुनकर ही स्मरण कर लिया जाता था, परन्तु इन्हें श्रुति इसलिए कहते हैं कि इनके पाठक को अपनी मेधा इनके ग्रहण करने के लिए ऐसा बनाना चाहिए कि वह इन्हें सुनकर ही याद कर लें जिससे आवश्यकता पड़ने पर इनके प्रमाणों का समुचित उपयोग कर सके, क्योंकि भारतीय विचारधारा के अनुसार कण्ठ की हुई विद्या का ही महत्त्व था। कहा गया है—

पुस्तकस्थातु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

पुनः फोयनीशियनों से भारतीयों ने लेखन-कला सीखा इस कथन की अप्रामाणिकता तत्काल सिद्ध हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि फोयनीशियन व्यापारी थे। व्यापारिक सुविधा के लिए उन्होंने बाबुलोनियन से लिखने की कला सीखकर उसमें आवश्यक सुधार किया तथा उसको परिष्कृत स्वरूप, प्रस्तुत किया। अतः लेखन-कला उनकी धरोहर नहीं थी परन्तु उन्होंने दूसरों से सीखा था। उसमें भी बाबुलोनिया के पहले ही सिन्धु घाटी में लेखन-कला का प्रचलन मिलता है। इसलिए लेखन-कला की पुरातनता के विषय में उपर्युक्त विदेशी विचार अमान्य है।

अभी हाल में किस्तान जिले में एक घड़ा मिला है। इस पर द्रविड़ी या तमिल भाषा में लेख लिखा है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विदेशी विचार कुछ अधिक अप्रमाणिक हैं। इनकी अप्रमाणिकता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि निष्पक्ष विवेचन के बाद विभिन्न भारतीय तथा विदेशी स्रोत इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि लेखन-कला का विकास चिर अतीत में ब्रह्मा के समय से हो चुका था।

भारतीय विवरण

उपर्यङ्कित विरोधाभासी तथ्यों के समक्ष वास्तविक ज्ञान के लिए हम निम्नांकित स्रोतों को आधार मानकर यदि अध्ययन करें तो तथ्य का स्पष्टीकरण हो सकता है—

अ. पारस्परिक एवं आनुश्रौतिक प्रमाण

ब. साहित्यिक स्रोत

स. यात्रा-विवरण

द. पुरातात्त्विक स्रोत

अतएव यहाँ क्रमशः एक-एक स्रोत के आधार पर अध्ययन किया जायगा जिसके एक समुचित और नियत निष्कर्ष निकल सके।

अ. पारस्परिक एवं आनुश्रौतिक प्रमाण

भारतीय लिपि के अध्ययन के लिए केवल भारतीय पक्ष तक ही सीमित रहने मात्र पारदर्शी से ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। इसका कारण यह है कि हमारी अनेक ज्ञान राशियाँ विदेशी आततायियों द्वारा विनष्ट कर दी गयी हैं तथा कुछ का विनाश बाद की अन्यमनस्क पीढ़ी के कारण हुआ। इसका अधिकांश मूल प्रतिलिपि में तथा सन्दर्भों में पड़ोसी सम्पर्की देशों के साहित्य एवं परम्पराओं में आज भी सँजोया है। इसलिए अध्ययन की व्यापकता के लिए हमें अपना दृष्टिकोण बहुमुखी बनाना पड़ेगा। हमें निम्नांकित सभ्यताओं के भण्डार को भी टटोलना पड़ेगा—

1. भारतीय,
2. चीनी,
3. अरबी,
4. यूनानी तथा
5. लंका की परम्परा एवं अनुश्रुति

यहाँ हम क्रमशः इन प्रत्येक देश के साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन करके एक निष्पक्ष निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करेंगे।

1. भारतीय परम्परा एवं अनुश्रुति—नारद स्मृति में एक श्लोक है—

'ना करिष्यति यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभांगतिः॥

अर्थात् यदि ब्रह्मा लिखने के द्वारा उत्तम नेत्र का विकास नहीं करते तो तीनों लोकों को शुभ गति नहीं प्राप्त होती।

वृहस्पति स्मृति में भी इसी प्रकार यह लिखा है कि पहले सृष्टि-कर्त्ता ने अक्षरों को पत्तों पर अंकित करने का विधान किया क्योंकि छः मास में किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में स्मृति विभ्रमित हो जाती थी।

बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तार में 64 लिपियों का उल्लेख किया गया है। उनमें से सबसे पहले ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है।

जैन ग्रन्थों में एक प्रसंग आता है कि ऋषभ नाथ को एक लड़की थी। उसका नाम बम्पी था। उसी को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक लिपि को विकसित किया। इसी से बम्पी को पढ़ाने के लिए निकाली गई लिपि ब्राह्मी कहलाई। यहीं समवायंणसूत्र एवं पणवणासूत्र में 18 लिपियों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रथम नाम ब्राह्मी का है। ब्यूलर के अनुसार यह परम्परात्मक वर्णन लगता है।

अभी हाल में बादामी के उत्खनन से ब्रह्मा तथा सरस्वती की एक खड़ी युगल मूर्ति निकली है। इसमें सरस्वती के हाथ में एक मुड़ी हुई पुस्तक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सरस्वती के साथ लेखन-कला के उद्भव को सम्बन्धित किया गया है तथा ब्रह्मा के हाथ में ताड़पत्र का एक गुच्छा है जो पुस्तक का द्योतक है।

इन उपर्यंकित विवरणों से लेखन-कला को पुरातनता स्पष्ट हो जाती है। इसकी पुष्टि कालिदास के इस कथन से होती है कि लिपि ही वह माध्यम है जिसे वाङ्गमय की प्राप्ति होती है जैसे—नदी के मुख से चलने पर उसके उद्गम तक हम पहुँच सकते हैं (कियेर्यथा वदग्रहणेन वाङ्गमयं नदी मुखेनेव समुद्रभाविशत्।)। इससे लिपि के अनत्तर साहित्य के विकास का संकेत मिलता है।

2. चीनी परम्परा एवं अनुश्रुति—भौगोलिक स्थिति तथा राजनीतिक, धार्मिक आदि सम्पर्कों से भारत तथा चीन एक-दूसरे के अत्यन्त समीप रहे हैं। इसी से एक-दूसरे की परम्परा परस्पर संचित है। विदेशियों की विनाश लीला के बाद भी अधिकांश भारतीय उपलब्धि चीनी साहित्य में गुम्फित है। चीन के साहित्य से ज्ञात होता है कि भारतीय लेखन-कला अत्यन्त पुरातन है। चीन के विश्वकोष फा-वान-शू-लिन में लिखा है कि पुरातन विश्व में केवल तीन लिपियाँ ही प्रचलित थीं। इनमें एक लिपि ब्राह्मी थी। यह फान (ब्रह्मा) द्वारा अविष्कृत थी। यह बाएँ से दाएँ ओर लिखी जाती थी और सभी लिपियों में सर्वोत्तम थी। ह्वेनसाँग ने भी अपने भारत यात्रा-विवरण में लिखा है कि लेखन-कला का प्रादुर्भाव सबसे पहले भारतवर्ष में ही हुआ था।

3. अरबी परम्परा एवं अनुश्रुति—अरब और भारत पड़ोसी देश होने के कारण इनमें सीधा सम्पर्क सदा से रहा है। इतिहासकार, अल्बेरुनी ने जैसा पहले कहा गया है, लिखा है कि भारतीय लेखन-कला भूल गये थे जिसे व्यास ने पुनः कलियुग में अविष्कृत किया। यह कथन स्वतः इस बात को प्रमाणित करता है कि कलियुग के पहले के युगों में भी लेखन-कला से भारतीय परिचित थे। दूसरे यहाँ उल्लिखित व्यास वेदों के संकलनकर्त्ता तथा पुराण और महाभारत के रचयिता बताए गये हैं। अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल से लेखन की व्यवस्थित परमपरा रही होगी।

4. यूनानी परम्परा एवं अनुश्रुति—सिकन्दर के साथ भारत में आने वाले यूनानी कर्मचारियों एवं इतिहासकारों ने यहाँ की कतिपय परम्परा एवं अनुश्रुति को अपने साहित्य में स्थान दिया है। नियार्कस नामक एक सेनापति ने लिखा है कि भारतवासी चिथड़ों तथा रुई से कागज बनाना जानते थे। कागज का प्रयोग लेखन सामग्री के लिये होता होगा। अतः विकसित लेखन-कला की ओर यह संकेत करता है। कर्टियस एक दूसरा यूनानी यात्री था। इसके अनुसार भारतीय वृक्ष की छाल पर लिखते थे। उसने भोजपत्र का उल्लेख किया है। आज भी भारतीय संन्यासी जन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए भोज-पत्रों का प्रयोग करते हैं। श्री ब्यूलर के अनुसार ये दोनों दो विभिन्न लेखन सामग्रियों की ओर संकेत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि लेखन-कला इस समय ज्ञात थी तथा यह बिलकुल नई नहीं थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाला यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि सड़कों के किनारे मील के पत्थर 10-10 स्टेडिया की एक निश्चित दूरी पर लगे हुए थे जिससे

सड़क की दूरी तथा ठहराव का ठिकाना ज्ञात होता था। यह दो बातों की ओर संकेत करता है। प्रथम कि भारतीय, गणना से परिचित थे तथा दूसरे वे अक्षरों के साथ गिनती लिखना और पढ़ना भी जानते थे। आगे वह यह भी कहता है कि भारतीय जन्म-कुण्डली देखकर वर्ष फल बतलाते थे तथा स्मृतियों के आधार पर न्यायिक मसलों का निर्णय करते थे। यहाँ जन्म-कुण्डली के अध्ययन का उल्लेख यह संकेत करता है कि गणना की व्यवस्थित और उच्चतम स्थिति से वे परिचित थे। 'स्मृति' के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने 'स्मरण शक्ति' का अर्थ लिया है। किन्तु डॉ॰ ब्यूलर ने इसके विरोध में यह कहा है कि स्मृति से अभिप्राय स्मृति ग्रन्थों से है न कि मेधा से। यही विचार डॉ॰ राजबली पाण्डेय का भी है।

5. लंका की परम्परा एवं अनुश्रुति—लंका में सुरक्षित त्रिपिटक साहित्य में न केवल 'लेखा' शब्द का प्रयोग मिलता है अपितु 'लेखक' शब्द का भी उल्लेख किया गया है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि लेखन की परम्परा चिर अतीत से विकसित थी, जिसमें सिद्धस्तता प्राप्त किये हुए लोग एक विशेष नाम—'लेखक'—से सम्बोधित किये जाते थे।

ब. साहित्यिक स्रोत

साहित्यिक स्रोतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय साहित्य के कतिपय स्थल लेखन-कला की पुरातनता का ज्ञान देते हैं। इसके अध्ययन के लिए हम भारतीय साहित्यिक स्रोतों को निम्नांकित उपखण्डों में विभक्त कर इसका व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(i) वेद— (क) ऋग्वेद
(ख) यजुर्वेद
(ग) अथर्ववेद

(ii) उत्तर वैदिक साहित्य (ब्राह्मण साहित्य)

(iii) बौद्ध साहित्य

(iv) जैन साहित्य

(i) वेद

(क) ऋग्वेद—महामहोपाध्याय पं॰ गौरीशंकर हीराचनद ओझा के अनुसार वेद विश्व साहित्य का सबसे पुराना ग्रन्थ है। इसे श्रुति इसलिए कहा गया क्योंकि इसकी ऋचाओं को लोग श्रुति (सुनकर) ही स्मरण कर लेना अधिक सुविधाजनक मानते थे। पुनः इस विचार की पुष्टि के लिए उन्होंने यह भी कहा है कि यदि इसका लिखित रूप नहीं रहा होता तो यह पूर्ण असम्भव था कि इस पर भाष्य किया गया होता तथा इनके ब्राह्मण ग्रन्थों की रचनाएँ की गई होती। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद की एक ऋचा का उल्लेख किया जाता है जिसका अभिप्राय है कि एक व्यक्ति जो ज्ञान को देखना चाहता है, उसे नहीं देख सकता, जो इसे सुनना चाहता है, नहीं सुन सकता पर वह इसके सम्मुख उसी प्रकार अपने भावों को प्रकट करता है जैसे—एक स्त्री नग्न रूप में अपने पति के सम्मुख उपस्थित होती है। यह ऋचा इस प्रकार है—

**'उतत्त्व पश्यन् न ददर्श वाचम्
उतत्त्व श्रुणवन् न श्रुणोति एतानि।
उतत्त्व समयि तन्वम् विस्स्रे
जायेव पत्यौं उशती सुवाशा'॥**

पुनः ऋग्वेद में गायत्री, वृहती, विराज, अनुष्टुप आदि अनेक छन्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना में इन छन्दों का प्रयोग किया जाता था। अतएव ऋग्वेद की ऋचाएँ अवश्य ही लिखी गयी होंगी। ऋग्वेद की एक दूसरी ऋचा में यह विवरण मिलता है कि जूआ के एक पांसे पर 1 अंक अंकित था। पुनः इसी ग्रन्थ में अंकों से लखड़ांकित (अंकित) गायों का विवरण मिलता है। तभी डॉ० राजबली पाण्डेय का मत है कि किसी-न-किसी प्रकार की लेखन विधि का प्रचलन इन ग्रन्थों के रचना के समय रहा होगा। डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने भी स्वीकार किया है कि लेखन-कला वैदिक काल में ज्ञात थी।

(ख) यजुर्वेद—इस वेद में विभिन्न छन्दों का उल्लेख मिलता है। इन छन्दों के नामों की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि लिखने की कला का चलन तत्कालीन समाज में था। इसमें क्षुरश, भ्राजश आदि छन्दों का उल्लेख है। क्षुरश का अभिप्राय है लिखने वाले छूरे की तरह किसी कठोर वस्तु से तथा भ्राजश का अभिप्राय है चमकने वाले वस्तु से लिखते थे। इससे ज्ञात होता है कि छन्द सम्भवतः तकुए से लिखे जाते होंगे और उनके अक्षरों पर चमकने के लिए रंग चढ़ा दिया जाता होगा जैसा आजकल निमन्त्रण पत्रों पर किया जाता है। पुनः इसमें लम्बे अंकों के उल्लेख मिलता हैं।

(ग) अथर्ववेद—इस वेद में एक स्नातक कहता है कि 'मैं वेद को वहीं रख देता हूँ जहाँ से मैंने इसे लिया था।' इससे स्पष्ट है कि उस समय वेदों का स्वरूप लिखित रहा होगा। पुनः एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'हे पृथ्वी, हम तुम्हें भौतिक बन्धनों से आबद्ध कर देंगे। तुम्हारा शरीर दो योग का है—कृसमानी और वित—जो कुछ भी तुम पर लिखा गया है वह एक विशिष्ट वस्तु से लिखा गया है जिससे यह अर्जित ज्ञान शीघ्र ही लुप्त न हो जाय।' इससे भी यही स्पष्ट होता है कि लेखन-कला अथर्ववेद के रचनाकाल में पूर्ण विकसित थी और उसका कारण था ज्ञान को स्थायी बनाना। अक्षर लेखन के साथ-साथ अंक लेखन का भी संकेत इस काल में मिलता है। ऋग्वेद में राजा सावर्णी द्वारा एक हजार गौओं को भिक्षा में देने का उल्लेख है जिनके कानों पर आठ का चिह्न अंकित था। यजुर्वेद में 'गणक' का उल्लेख आया है जो गिनने का काम करते थे। यहाँ गिनना तभी सम्भव था जब गिनती लिखने का चलन रहा हो।

(ii) उत्तरवैदिक साहित्य (ब्राह्मण साहित्य)

उत्तरवैदिक कालीन साहित्य से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके समुचित ज्ञान के लिए हम ब्राह्मण साहित्य को निम्नांकित खण्डों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं—

(क) वेदाङ्ग (ख) उपनिषद एवं आरण्यक

(ग) महाकाव्य (घ) अन्य ग्रन्थ

(क) वेदाङ्ग—वेदाङ्ग में व्याकरण का स्थान प्रमुख है। संस्कृत व्याकरण का जितना व्यापक अध्ययन चिर अतीत में पाणिनि ने किया है, उतना किसी भी दूसरे साहित्य में संभव नहीं हो सका है। इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व लेखन-कला का विकास हो चुका था। अन्यथा बिना लिखित सामग्री के व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही कैसे हो सकता ? पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में लिपि शब्द का प्रयोग लिखने के सम्बन्ध में किया है। इसके अतिरिक्त 'लिपिकार' और 'ग्रन्थ' शब्द भी यहाँ प्रयुक्त हैं। ये लिपि और लिपि के निमार्ण की परम्परा का ज्ञान देते हैं। अंकों का भी विकास इस समय तक ज्ञात होता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में अंकों का भी प्रसंग आया है। इसमें पशु

के कान पर 5 तथा 8 अंकों के चिह्न अंकित करने का उल्लेख है। पाणिनि ने अपने पूर्व के भारद्वाज, काश्यप आदि वैयाकरणों का नाम गिनाया है। वे व्याकरण के अध्यापक थे। अतएव पाणिनि के पूर्व अर्थात् 8वीं शताब्दी ई॰ पूर्व में लेखन-कला समुचित रूप से विकसित रही होगी। पाणिनि के पहले यास्क ने निरुक्त लिखा था। उसमें बहुत से वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है जिनकी कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनि के बहुत पहले लेखन-कला विकसित हो चुकी थी।

(ख) उपनिषद एवं आरण्यक—छान्दोग्य उपनिषद में अक्षरों के लिखने का विवरण मिलता है। वर्ण और मात्रा का उल्लेख तैत्तरीय उपनिषद में साथ-साथ किया गया है। ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय ब्राह्मण में अक्षर उच्चारण का परिचय मिलता है। पुनः उपनिषद दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इन दार्शनिक तथ्यों को बिना लिखे व्यवस्थित करना सम्भव नहीं था। अतएव अवश्य ही इस समय लेखन कला विकसित रही होगी।

(ग) महाकाव्य—रामायण में एक प्रसंग आया है कि जब हनुमान लंका गए और वहाँ अशोक वाटिका में सीता के सन्मुख राम की मुद्रिका गिराये तो सीता को आश्चर्य हुआ कि इस अशोक वाटिका में यह राम की मुद्रिका कहाँ से गिरी। फिर हनुमान प्रकट होकर अपना परिचय देने लगे। इस पर मुद्रिका के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते हुए प्रमाण के लिए जब सीता ने उनसे पूछा तो हनुमान ने कहा—

'रामनामांकितं चेदि पश्य देवि अंगुलीयकम् – वाल्मीकि रामायण

(तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुन्दर—मानस)

अर्थात् 'हे देवी ! रामनाम अंकित इस अँगूठी को देखो !' इससे यह स्पष्ट है कि रामायण के काल में लिखने की कला प्रचलित थी अन्यथा अँगूठी पर राम का नाम कैसे अंकित होता। साथ ही यदि लिखने का चलन न रहा होता तो सीता और हनुमान उसे पढ़ना कैसे जानते ? इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर यह भी उल्लेख मिलता है कि संस्कार से हीन होने पर शब्द का अर्थ बदल जाता है।

'संस्कारेण यथा हीनां वाच्यमर्थान्तरंगताम्। वा॰ रा॰ 5 | 15 | 39 |'

यहाँ संस्कार के सन्दर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय का विचार है कि किसी-न-किसी प्रकार के व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रचलन वहाँ अवश्य रहा होगा। संस्कार से अभिप्राय यहाँ व्याकरण से है जो साहित्य को संस्कारित (शुद्ध) करता है। यह भी लेखन-कला की प्रचलित स्थिति का बोधक है। महाभारत में भी लिख, लेखक, लेखन आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। आदिपर्व में तो उल्लिखित है कि व्यास ने इसके लिखने के लिए लेखन-कला में कुशल 'गणेश' नामक एक व्यक्ति (या देवता) को नियुक्त किया था। डॉ॰ पाण्डेय तथा ब्यूलर के अनुसार लेखन सम्बन्धी ये तथ्य पूर्ण विश्वसनीय हैं।

(iii) बौद्ध साहित्य

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तान्त में एक विशिष्ट प्रकार के खेल खेलने का निषेध है। यह खेल हैं—'अखखरिका'। इस खेल में बौद्ध भिक्षु एक-दूसरे की पीठ पर चढ़कर हवा में अंगुलियों के सहारे अक्षर बनाते थे जिसे दूसरा पढ़ता था। आज भी लड़के ऐसा खेल खेलते हैं। विनय पिटक में कहा गया है कि भिक्षुओं को अक्षर लिखने का व्यसन था तथा इस माध्यम से कुछ गृहस्थ अपनी जीविका भी अर्जित करते थे। इस समय लेख, गणना, रूप आदि की शिक्षा का विधान मिलता है। इनका

उल्लेख हाथीगुम्फा अभिलेख में भी हुआ है। यह शिक्षा पटरी पर कलम के द्वारा बचपन में दी जाती थी। भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में उल्लिखित है कि वह लिपिशाला (विद्यालय) में जाकर सोने के कलम से चन्दन की पटरी पर लिखना प्रारम्भ किए थे। यहाँ ताड़-पत्र और भोज-पत्र पर भी लिखने का वर्णन मिलता है। विनयपिटक में 'लिखितक चोर' का भी उल्लेख है जिसका अभिप्राय ऐसे चोर से है जिसका राज्य में लिखित विवरण रखा जाता होगा। यहाँ 'लिख' और 'लिखावित' शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका अर्थ है लिखना तथा लिखने के लिए बाधित करना। उदान में लेखाशिल्प का उल्लेख है। अंगुत्तर निकाय में 'लेखनी (कलम); जातकों में अपपोत्थक (आपकी पुस्तक); पोत्थक (पुस्तक); इण्ण पोथक (ऋण की पुस्तक) का विवरण है जो लेखन-कला के चलन को पुष्ट करता है। ललित विस्तर में 64 लिपियों का उल्लेख है जिनमें ब्राह्मी का नाम सर्वोपरि है।

(iv) जैन साहित्य

जैन साहित्य भी इस दिशा में कुछ संकेत देता है। इससे ज्ञात होता है कि जैन भिक्षुओं के लिए लिखना वर्जित था। जो भिक्षु लिखते थे उन्हें कठिन प्रायश्चित करना पड़ता था। जैन परम्परा दो लिपियों की तालिका प्रस्तुत करती है—(1) 12 अक्षरों की लिपि तथा (2) 18 अक्षरों की लिपि। भागवती सुत्त ब्राह्मी की वन्दना से ही प्रारम्भ होता है।—'नमो वम्यिये लिखिए'। इस प्रकार जैन साहित्य भारतीय लेखन कला की पुरातनता पर प्रकाश डालता है।

इन विभिन्न साहित्यिक विवरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय लेखन-कला का इतिहास अत्यन्त पुरातन है।

स. यात्रा-विवरण

प्राचीन भारत में समय-समय पर विदेशी आते रहे। इनमें अधिकांश विदेशी यात्री चीन के ही थे। इन्होंने अपनी यात्रा का विवरण पुस्तकाकार छोड़ा है। इन विवरणों में यहाँ की विभिन्न परम्पराओं और व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें लेखन-कला सम्बन्धी विवरण भी प्राप्त होता हैं।

ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारतीय लिपि सब लिपियों से पुरानी है। ह्वेनसांग यहाँ से अपने देश लौटने समय एक बहुत बड़ा साहित्य का भण्डार भारत से खच्चरों पर लाद कर ले गया था। उसके विवरण से यह भी ज्ञात होता कि यहाँ जन्म-पत्री का प्रचलन था तथा सड़कों के किनारे अंक लिखे हुए मील-स्तम्भ लगाये जाते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे यात्रियों ने लेखन सामग्री के रूप में ताड़पत्र, भोजपत्र, ताम्रपत्र आदि के चलन का उल्लेख किया है। इस प्रकार विदेशी यात्रियों के विवरण भी हमारी लिपि की पुरातनता को व्यक्त करते हैं।

द. पुरातात्त्विक स्रोत

ऊपर जितने भी स्रोतों का सहारा लिया गया है वे सभी साहित्यिक हैं। इनके विवरणों को और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पुरातात्त्विक स्रोतों का आधार ग्रहण किया जाय क्योंकि पुरातत्त्व प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं जबकि साहित्य आदि परोक्ष साक्ष्य हैं।

डॉ० भण्डारकर ने कलकत्ता सम्मेलन के अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उत्तर पाषाण-काल से ही लिपि का विकास हो चुका था। इसकी पुष्टि में उन्होंने बताया कि उस काल के कुछ पत्थरों पर उन्हें कुछ रेखांकित आकृतियाँ मिली हैं। परन्तु यह धारणा

पीछे गलत सिद्ध हुई क्योंकि ये अक्षर रोमन लिपि के पहचाने गए हैं। पं॰ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अशोक कालीन अभिलेखों के पूर्व उत्कीर्ण दो अभिलेखों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें एक अभिलेख अजमेर का है तथा दूसरा नेपाल घाटी का। प्रथम अभिलेख तीर्थंकरों से 84 वर्ष पूर्व अंकित किया गया था अर्थात् 443 ई॰ पूर्व में तथा दूसरा अभिलेख डॉ॰ ब्यूलर के अनुसार 487 ई॰ पूर्व में लिखा गया था। इसकी पुष्टि इस तर्क से होती है कि अशोक के अभिलेखों में अकित है कि उसने अपने लेखों को पत्थर पर इसलिए खुदवाया था कि ये स्थायी बने रहें। इससे स्पष्ट होता है कि इसके पूर्व भी लेख लिखे जाते थे पर वे किसी ऐसे आधार पर लिखे जाते थे जिससे उसका स्वरूप स्थायी नहीं होता था। अशोक के पूर्व कुछ अभिलेख यथा—सोहगौरा, महाथानगढ़, पिपरहवाँ आदि से भी मिले हैं। पुनः पटना और पार्खम से प्राप्त यक्ष तथा यक्षी की पीठ पर अंकित लेख भी मिले हैं। ये लेख साधारणतया अशोक के पूर्व के लिखे गये माने गये हैं। यद्यपि इस सम्भावना की कटु आलोचना कर अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि ये भी अशोक की ही तिथि के आस-पास लिखे गये होंगे।

अशोक के अभिलेखों पर दृष्टिपात करने से उस युग के ब्राह्मी अक्षरों के रूपों में पर्याप्त अन्तर स्थान-स्थान पर तथा एक ही स्थान के लेख की पंक्तियों में भी देखने को मिलता है। इस सन्दर्भ में किसी भी अक्षर को ले लें तो इस कथन की पुष्टि हो जाती है। इसका व्यापक विवरण डॉ॰ चन्द्रिका सिंह उपासक की कृति 'हिस्ट्री एण्ड पैलियोग्राफी ऑव मोर्यन ब्राह्मी स्कृप्ट' में द्रष्टव्य है। यह लेखन-कला की कुशलता, व्यापकता तथा लेखक के कौशल को प्रमाणित करता है।

पर इन सभी प्रमाणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का प्रमाण है सिन्धु घाटी के ठिकरों पर प्राप्त उभरे हुए कुछ चिह्न जिन्हें लेख माना जा रहा है। यद्यपि इस लिपि के सम्बन्ध में साधारणतया यही धारणा है कि यह चित्रात्मक लिपि है। पर डॉ॰ प्राणनाथ विद्यालंकार के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि यह लिपि भले ही आंशिक रूप में चित्रात्मक हो पर इससे अक्षरों का भी बोध होता है। यद्यपि अभी तक इसे स्पष्ट रूप से पढ़ा नहीं जा सका है।

इन विभिन्न स्रोतों पर आधारित विवेचन से यह कहना बड़ा ही कठिन है कि लिखने की प्रणाली भारतीय इतिहास में कहाँ से प्रारम्भ हुई ? इससे इतना तो निश्चित ही है कि वैदिक काल में विकसित लेखन प्रणाली प्रचलित थी। यद्यपि अभी तक उस लिपि का निश्चित प्रत्यक्ष स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है। श्री विण्टरनित्स महोदय का यह मत है कि लेखन-कला का प्रारम्भ भारतीय इतिहास में 18वीं शताब्दी ई॰ पूर्व में हो चुका था। परन्तु यह विचार अन्तिम नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदों का रचना-काल अभी भी पूर्ण निश्चित नहीं हो पाया है। पर अनेक साक्ष्यों के समन्वीकृत अध्ययन के आधार पर इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि वैदिक कालीन भारत में लिखने की परम्परा पूर्ण विकसित थी। परन्तु यह भी सत्य है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के काल से ही भारतीय लेखन-कला के इतिहास का प्रारम्भ माना जा सकता है जो धीरे-धीरे समय के प्रवाह के साथ क्रमशः विकसित होती रही।

●

अध्याय 2

ब्राह्मी लिपि का उद्भव

भारतीय लेखन कला की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देखा गया है कि जहाँ पारम्परिक एवं आनुश्रौतिक स्रोत लेखन-कला की पुरातनता पर प्रकाश डालते हैं, वहीं उनमें अधिकांश ब्राह्मी लिपि का उलेख भी करते हैं। चीनी विश्वकोष फा-वान-शू-लिन, तीन लिपियों का उल्लेख करता है—(1) ब्राह्मी, (2) कइअलू तथा (3) तनसकी। अल्बरूनी ने लिखा है कि ब्रह्मा ने एक लिपि का आविष्कार किया था जिसका नाम ब्राह्मी थीं तथा वह बायें से दाईं ओर लिखी जाती थी। जैन परम्परा के अनुसार, आदि पुराण में लिखा है कि ऋषभनाथ ने एक लिपि का आविष्कार अपनी लड़की को सिखलाने के लिए किया था। उनकी लड़की का नाम बम्पी था। इसलिये इस लिपि का नाम उनकी लड़की के नाम के पीछे ब्राह्मी पड़ा। ब्राह्मी लिपि की आवृति बार-बार होने से यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव कैसे और कब हुआ ?

इसके उद्भव के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। इसलिये इन मतों को क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले परम्पराओं का अध्ययन किया जायगा। प्रायः भारतीय तथा विदेशी प्रत्येक परम्पराएँ इस लिपि का सम्बन्ध भारत से जोड़ती हैं। परन्तु कुछ विदेशी विचारकों ने तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इसकी उत्पत्ति विदेशी स्रोत से हुई है। भारतीय विचारक विदेशी विचारकों के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसका उद्भव भारतीय सिद्ध किया है। अतः इस अंध्ययन को व्यवस्थित करने के लिए प्राप्त विचारों को निम्नांकित रूप से क्रमबद्ध कर सकते हैं—

1. ब्राह्मी का पारम्परिक स्रोत से ज्ञान
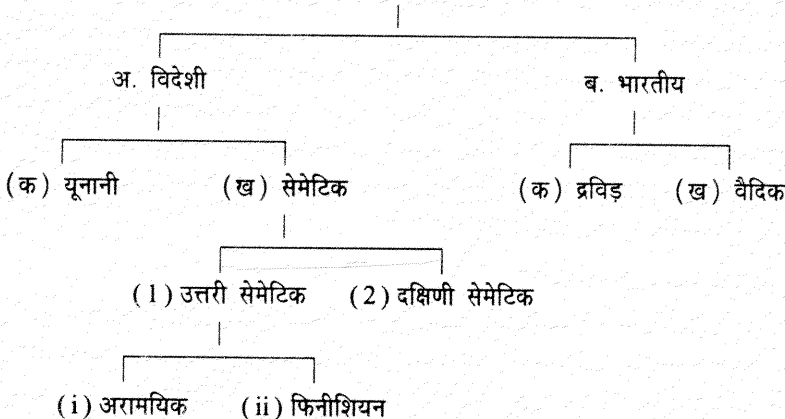
1. पारम्परिक स्रोत से ब्राह्मी का ज्ञान

साधारणतया यह धारणा प्रचलित है कि एक लिपि की स्थापना ब्रह्माणों ने किया था। चूँकि इसका उद्भव ब्राह्मण और वेदों की रक्षा के लिए हुआ था, इसी से इसे ब्रह्मा से सम्बन्धित करने के लिए ब्राह्मी नाम दिया गया। यह देव लिपि थी जिसे बड़ा अनुग्रह करने पर ब्रह्मा जी ने ब्राह्मणों को दिया था। प्राचीन भारत में ब्राह्मी लिपि की आवश्यकता दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है—वेदों के संरक्षण के लिए तथा प्राचीन भारतीय विकसित समुन्नत व्यापार के लेखा-जोखा रखने के लिए।

जैन परम्परा से यह ज्ञात होता है कि जैन तीर्थंकर आदिनाथ की लड़की का नाम बम्पी था। उसी को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक लिपि का आविष्कार किया। यह लिपि उस कन्या के नाम के पीछे ब्राह्मी के नाम से चर्चित हुई। इसीलिए भागवती-सुत्त के प्रारम्भ में ही लिखा गया है—**'नमो बम्पिए लिखिए'**।

पुनः ऋग्वेद में 'ब्रह्मि' शब्द प्रयुक्त है। पाणिनि के अनुसार यह शब्द अशुद्ध लिखा गया है। इसका उचित रूप 'ब्राह्मी' है। पीछे लोगों ने ब्राह्मी का सम्बन्ध 'ब्रगर' शब्द से जोड़ा जो पूर्णतया नार्वेजियन शब्द है। इसका अर्थ है—काव्य की कला। आस्ताफ ने इसका अर्थ---जादू का प्रभाव (मैजीकल स्पेल) बताया है ।

चीन के विश्व-कोष फा-वान-शू-लिन में लिखा है कि चिर अतीत में तीन लिपियाँ संसार में प्रचलित थीं—ब्राह्मी, कइअलू तथा तनसकी। इसके अनुसार ब्राह्मी पूर्ण स्वतन्त्र लिपि है। जैसा ऊपर कहा गया है कि इसे फान (ब्रह्मा) ने आविष्कृत किया था तथा यह बाएँ से दायें लिखी जाती थी। इसमें यह भी कहा गया है कि इसका उद्भव भारत में हुआ था।

2. ब्राह्मी के उद्भव स्थान पर विचार

ब्राह्मी के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक भारतीय तथा विदेशी विचारकों ने इसका उद्भव स्थान ढूँढ निकालने के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों के आधार पर अध्ययन किया है। इनके अनुसार इसके उद्भव को दो उप-खण्डों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग के अनुसार इसका उद्भव स्थान भारत था जबकि दूसरा वर्ग इसका उद्भव स्थान विदेश बताता है। विदेशी उद्भव के सम्बन्ध में भी विचारकों का एक मत नहीं है। कुछ इसका उद्भव स्थान यूनान बताते हैं और कुछ सेमेटिक। जो लोग सेमेटिक बताते हैं वे भी अपने विचारों में परस्पर सहमत नहीं हैं क्योंकि उनमें यह मतभेद है कि सेमेटिक के किस भाग में इसका उदय हुआ था। एक पक्ष इसका उद्‌भव उत्तरी सेमेटिक तथा दूसरा पक्ष दक्षिणी सेमेटिक निश्चित करता है। उत्तरी सेमेटिक के पक्षपातियों में से एक दल अरामयिक तथा दूसरा फिइनीशियन उद्भव बताता है। इसलिये इन प्रत्येक मत-मतान्तरों के अध्ययन करने के बाद ही कोई एक निश्चित तथ्य निकाल जा सकता है।

अ. विदेशी उद्भव का सिद्धान्त

(क) यूनानी उद्भव—कुछ विदेशी विद्वान् मूल्लर, सेनार्ट, प्रिंसेप आदि ने भारतीय ब्राह्मी तथा यूनानी लिपि में समता स्थापित करने का प्रयास किया है। इनका विचार है कि ब्राह्मी का उद्भव यूनानी लिपि से हुआ है। इस यूनानी लिपि के भारतीय आगमन के कारण के सम्बन्ध पर प्रकाश

डालते हुए इन्होंने आगे कहा है कि फाइनीशियनों द्वारा यह यूनानी लिपि भारत में उनके व्यापार के माध्यम से आई। दूसरी सम्भावना यह भी व्यक्त की गयी है कि सिकन्दर के भारतीय आगमन के साथ यूनानी लिपि का सम्पर्क भारत के साथ हुआ और तब भारतीयों ने ब्राह्मी लिपि का प्रचलन प्रारम्भ किया।

पर यह विचार पूर्णतया अप्रासंगिक प्रतीत होता है क्योंकि भारत तथा यूनान का सम्पर्क यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से सिकन्दर के आक्रमण के समय से हुआ था पर इस सम्पर्क के बहुत पहले ही जैसा पहले अध्याय में हमने देखा है, लेखन-कला का विकास हो चुका था। ब्यूलर महोदय के अनुसार तो आठवीं और नवीं शताब्दी ई० पू० में भारतीय लेखन-कला से परिचित थे। यह तर्क कि फोइनीशियन व्यापारियों के माध्यम से यह लिपि भारत में आई, कुछ बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता क्योंकि फोइनीशिया में लिपि का प्रचलन यूनानी लिपि के उद्भव के बहुत पहले से ही था। इसलिए यह कहना कि यूनानियों से फोइनीशिया के व्यापारियों ने लिपि सीखी, उचित नहीं लगता है। पुनः ये फोइनीशियन भारतीय मूल के थे। ऋग्वेद में इन्हें पणी कहा गया है। ये ही व्यापार करते हुए भूमध्यसागर के तट पर बस गये। वहाँ इन्होंने अपनी बस्तियाँ स्थापित की। अतएव इनकी लिपि अवश्य ही भारतीय उद्भव की रही होगी। इसी लिपि से सम्भव है, यूनानियों ने लिखना सीखा हो; न कि जैसी धारणा है यूनानियों से फोइनोशियन व्यापारियों ने लिपि सीखी और फिर भारतीयों को सिखाया। डॉ० राजबली पाण्डेय का यह तर्क बड़ा सटीक लगता है। पुनः यूनानी और ब्राह्मी अक्षरों की संरचना में कोई समता नहीं दिखाई पड़ती हैं। किसी भी साहित्यिक अथवा लिपिशास्त्रीय प्रमाण से यह बात सटीक नहीं बैठती। साथ ही अशोक के समय में ही ब्राह्मी और यूनानी दोनों लिपियाँ यहाँ साथ-साथ प्रचलित थीं। अतः यह कहना बड़ा अनुचित लगता है कि दूसरे से पहले का उद्भव हुआ। डीग्लेव के अनुसार तो भारतीय लिपि के आकार और ध्वनियों को यूनानी लिपि से समीकृत नहीं की जा सकती। दूसरे भारतीय वर्णमाला पाणिनि के पूर्वोल्लिखित वैयाकरणों के समय तक अत्यन्त व्यवस्थित हो चुकी होगी जबकि उस समय तक यूनान लिपि के इतिहास में अभी अक्षरों का पदात्मकता (Syllabic) से छूटने का काल था। इसलिए यह विचार भ्रामक प्रतीत होता है।

(ख) सेमेटिक—विद्वानों का एक वर्ग जिसके नायक हैं सर विलियम जोन्स, यह विश्वास करता है कि ब्राह्मी लिपि का विकास सेमेटिक लिपि से हुआ। किन्तु इस पर विद्वानों में स्वयं मतैक्य नहीं है कि सेमेटिक कि शाखा से इसका अनुसरण किया गया है क्योंकि सेमेटिक लिपि मोटे रूप से तीन शाखाओं में बाँटी जा सकती है—उत्तरी सेमेटिक, दक्षिणी समेटिक तथा फोइनीशियन। अतः इन सभी शाखाओं के साथ इसकी समता के स्थापनार्थ खींचा-तानी की गयी है अत७ विवेचनात्मक अध्ययन के बाद ही इसकी सत्यता स्वीकार की जा सकती है।

(1) उत्तरी सेमेटिक—उत्तरी सेमेटिक शाखा की लिपि से ब्राह्मी के उद्भव के विचार के संस्थापक हैं ब्यूलर, डेविड, डिरिंजर आदि।

ब्यूलर महोदय के अनुसार सेमेटिक अक्षरों से ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव निकालना बड़ा कठिन है। पर इसकी एक विशेष शाखा उत्तरी सेमेटिक से ब्राह्मी का विकास निश्चित करना अत्यन्त ही सरल है। उत्तरी सेमेटिक अक्षरों की निर्माण शैली एवं सिद्धान्तों के सहारे ब्राह्मी के निर्माण का कौशल बड़ा ही सरल जान पड़ता है। इसके समुचित अध्ययन के लिए इन्होंने ब्राह्मी अक्षरों की प्रवृत्तियों

का निम्नांकित अध्ययन किया है—

(1) प्रायः इसके अक्षर सीधे हैं और परस्पर लम्बाई में एक-दूसरे के समान हैं; जैसे— + (क) ४ (म)।

(2) ये अक्षर सीधी रेखाओं के बने हैं। इनमें जोड़ की रेखाएँ अधिकांशतः नीचे की ओर लगी हैं और कभी-कभी नीचे तथा ऊपर दोनों ही ओर लगी हैं, पर बहुत ही कम अक्षरों में बीच में प्रयोग की गई हैं।

(3) अक्षरों के निचले भाग में सीधी रेखाएँ बनी हैं। बहुत कम अक्षर ऐसे हैं जिनमें नीचे से दो तिरछी रेखाएँ ऊपर की ओर उठती हुई दिखाई पड़ती हैं। ऐसे अक्षर हैं— ४ (म) ᚵ (झ) आदि। पर किसी भी परिस्थिति में शीर्ष भाग पर बहुत से कोणों की आकृतियाँ नहीं दिखाई पड़ती हैं।

इन विशेषताओं के सन्दर्भ में विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि उत्तरी सेमेटिक अक्षरों के भारी शिरों को नीचे कर उनका स्वरूप उलटा कर दिया जाय तथा उनके किनारों को खुला छोड़ दिया जाय तो पूर्ण भारतीय ब्राह्मी अक्षरों की समता में उन्हें लाया जा सकता है तथा इनके लेखन क्रम की दिशा में परिवर्तन करने के कारण प्रायः चिह्न दाहिने से बायें हो जायेंगे जिसका स्पष्ट स्वरूप ब्राह्मी अक्षरों में दिखाई पड़ता है। इन्होंने इस आपत्ति का कि ब्राह्मी बायें से दायें लिखी जाती हैं तथा सेमेटिक लिपि दायें से बायें, परिहास के लिए भ्रमवश उल्टे मुद्रित कुछ अशोक के अभिलेखों में ध, त, ओ आदि अक्षरों की ओर संकेत किया है तथा एरण के सिक्कों की ओर भी इंगित किया है जो साँचा बनानेवाले की भूल के कारण उनपर उल्टा लिख गया है। साथ ही एरागुड्डी के अभिलेख एवं लंका के दुवेगल अभिलेख का भी उल्लेख किया है जिनमें कुछ लेखन की दशा में अशुद्धि हो गयी है।

ब्यूलर महोदय ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मी लिपि में प्रयुक्त 22 अक्षर उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से बने हैं। कुछ पुरातन फोइनीशियन अभिलेखों के अक्षरों से निर्मित हैं। बहुत कम अक्षर मेसा के प्रस्तर अभिलेख के अक्षरों से लिये गये हैं। इनके पाँच अक्षर असीरिया के बटखरों पर अंकित अक्षरों के अनुकरण पर बने हैं।

डेविड डिरिंजर ने भी उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति बतायी है। अपने विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने दो तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(अ) यह लिपि स्वतंत्र रूप से भारतीय आविष्कार की नहीं है पर व्यापारिक क्रियाकलापों की सुविधा के लिए सेमेटिक से भारतीयों ने अपनाया था।

(ब) अक्षरों के सहारे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियों के उच्चारण की भावना बिना किसी सन्देह के ब्राह्मी में पश्चिमी एशिया से अनुकरण की गयी है।

अपने तर्कों की पुष्टि के लिए पुनः इस विद्वान् विचारक निम्नांकित तथ्यों को व्यक्त किया है—

1. यह प्रारम्भ में दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती थी। इसके चिह्न भी पूर्णतया सेमेटिक अक्षरों की तरह ही हैं।

2. विद्वानों का यह विचार है कि भारतीय परम्परा में बोलचाल कुछ दूसरे प्रकार की थी। अक्षरों का विकास यहाँ निर्धारित नहीं किया जा सकता। सेमेटिक अक्षरों में स्वरचिह्नों का पूर्ण अभाव था। इन स्वर चिह्नों की रचना सेमेटिक अक्षरों में भारतीय ने नहीं पर यूनानियों ने किया।

इस प्रकार विभिन्न तर्कों के आधार पर डिरिञ्जर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय ब्राह्मी अक्षर उत्तरी सेमेटिक अक्षरों की देन हैं। इन उत्तरी सेमेटिक अक्षरों के सम्बन्ध में प्रस्तुत तर्कों को सुव्यवस्थित रूप में हम इस प्रकार सजा सकते हैं—

(i) ब्राह्मी तथा सेमेटिक अक्षरों की निर्माण कला में समता दिखायी पड़ती है।

(ii) प्रारम्भिक अक्षरों के लिखने की परम्परा सेमेटिक थी। भारत में चित्रकारी भाषा में पहले लिखा जाता था। किसी भी चित्रकारी लिपि से अक्षरों का विकास सम्भव नहीं हो सकता।

(iii) पाँचवीं शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले भारतीयों में इतिहास लिखने की परम्परा का कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलता। इसी समय से भारत का सम्पर्क पश्चिमी विश्व से हो चुका था। अतएव पश्चिमी सभ्यता की देन के परिणामस्वरूप ही भारतीय अक्षरों का विकास निर्धारित किया जा सकता है।

(iv) प्राचीन परम्परा में भारतीय दाएँ से बाएँ की ओर लिखते थे, जैसे—सेमेटिक लिपियाँ लिखी जाती थीं।

पर पश्चिमी विचारों की उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी के उद्भव की यह धारणा मान्य नहीं प्रतीत होती। इसके विरोध में भारतीय विद्वानों ने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किया है—

(i) ब्यूलर महोदय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव सेमेटिक अक्षरों से निकालना बड़ा ही कठिन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की बात केवल चौथे तर्क के आधार पर पूर्वानुग्रह से एक धारणा के सिद्ध करने मात्र के लिए प्रतिपादित किया गया है। इन तर्कों में ब्यूलर महोदय ने केवल यह प्रयास किया है कि किसी प्रकार भी किसी पश्चिमी लिपि से इस भारतीय लिपि की समता स्थापित की जा सके।

(ii) ब्राह्मी तथा अरामयिक लिपि में कोई मान्य एकरूपता नहीं है। यहाँ एकरूपता लाने के लिए दोनों लिपियों में अनेक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के परिवर्तन द्वारा किसी भी लिपि के अक्षरों की समता दूसरी लिपि के अक्षरों से स्थापित की जा सकती है। डॉ॰ गौरीशंकर हीराचंद आझा ने तो इस तर्क के आधार पर इतना सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस आधार पर अंग्रेजी के अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति बताई जा सकती है **A = [Brahmi glyphs] तथा B = [Brahmi glyphs]**। तथा इसके उल्टा भी हम ब्राह्मी से किसी भी लिपि की उत्पत्ति बता सकते हैं।

(iii) फोइननीशियन वास्तव में भारतीय थे। ये व्यापार करते हुए पश्चिम की ओर गए। वहीं बस गये। ऋग्वेद में इन्हीं के लिए 'पणि' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ इन्होंने अपनी संस्कृति का प्रसार किया। इनकी लिपि जिसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं उसे ठीक तरह से पश्चिमी समाज अपना नहीं सका। बायें से दायें लिखने की परम्परा के स्थान पर वहाँ इसे दायें से बायें लिखने की परम्परा का प्रारम्भ हुआ तथा कुछ अक्षर अपने वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा उलट-फेर कर उधर अपना लिये गये। इसी से पश्चिमी लिपि के अक्षर ब्राह्मी अक्षरों की अपेक्षा उल्टे-पल्टे दिखाई पड़ते हैं।

(iv) यह कहना कि चित्रकारी लिपि से अक्षरों का विकास नहीं हो सकता, समुचित नहीं प्रतीत होता। प्राचीन काल में प्रायः प्रत्येक देश में पहले चित्रकारी अक्षरों का ही विकास था। पीछे वर्णमाला

के विभिन्न अक्षर उससे निकले। जहाँ तक भारतीय आदि अक्षरों का प्रश्न है, इसका प्रारम्भ हम सिन्धु घाटी से जोड़ पर करते हैं। पूर्णतया सिन्धु घाटी के अक्षर को चित्रकारी अक्षर कहना उचित नहीं है। इन अक्षरों में वर्णमाला की ओर विकास का क्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसलिए सम्भव है कि ब्राह्मी अक्षरों का विकास सिन्धु घाटी के अक्षरों से हुआ हो। यह बात दूसरी है कि किन सोपानों से विकसित होती हुई ब्राह्मी अशोक के समय में अपने रूप में पहुँची।

(v) ब्यूलर महोदय ने ब्राह्मी के कुछ निम्नांकित अभिलेखों के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है जहाँ दायें से बाएँ की ओर लिखी गयी हैं—

1. अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर,
2. एरागुड्डी के शिला-लेख के अक्षर और
3. एरण के सिक्के पर अंकित अक्षर।

ब्यूलर के इस तर्क के विरुद्ध पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कहा है कि यह अल्टा लिखावट संभवतः लेखकों की गलती के कारण प्रतीत होता है। हुल्श तथा फ्लीट आदि भी ब्यूलर के इस मत से सहमत नहीं हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि एरागुड्डी में सम्भवतः नवीन प्रयोग किया गया था। वहाँ अभिलेख की सम्पूर्ण पंक्तियाँ दाएँ से बाएँ नहीं चलती पर एक बाएँ से दाएँ चलती हैं तो दूसरी दाएँ से बाएँ चलती हैं। जहाँ तक अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षरों की बात है, सम्भवतः लेखक के लिखने के दोष के कारण यह दोष अक्षरों में दिखाई पड़ता है। यही कारण एरण से प्राप्त सिक्कों के सम्बन्ध में भी सत्य प्रतीत होता है।

(vi) ब्यूलर महोदय ने पुनः कहा है कि पांचवीं शताब्दी के पहले भारतीय इतिहास में अक्षरों के लिखने की परम्परा का प्रत्यक्ष रूप में अभाव दिखायी पड़ता है। पर लेखन-कला की पुरातनता के सम्बन्ध में पहले अध्याय में देखा जा चुका है कि ब्यूलर ने यह विचार व्यक्त किया है कि सिन्धु घाटी में लेखन-कला का प्रचलन हो चुका था तथा भारतीय लेखन-कला से इससे पहले ही परिचित थे। इसलिए ब्यूलर का यह विचार यहाँ हास्यास्पद लगता है।

(vii) पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार विदेशी विद्वानों के इस दिशा में दिए गए किसी भी तर्कों में वास्तविकता का पूर्ण अभाव दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि विदेशी उद्भव के सिद्धान्त के प्रतिपादन में कुछ भी वास्तविक अंश नहीं है।

श्री अहमद हसन दानी ने उत्तरी सेमेटिक अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति की बात स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में उनके निम्नांकित तर्क हैं—

(1) ब्राह्मी अक्षरों की संख्या भारतीय वर्णमाला से कम है। यह वर्णमाला ब्राह्मी की उपज नहीं।

(2) ब्राह्मी के चिह्न मूलतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—मूल स्वर और मूल व्यञ्जन.....। 3 मूल स्वर चिह्न हैं और 19 मूल व्यञ्जन चिह्न। इस प्रकार कुल 22 सेमेटिक अक्षरों के बराबर हैं।

(3) ब्राह्मी की उत्पत्ति कोई अलग घटना नहीं है। इसका विचार करते समय तत्कालीन सभ्य विश्व की संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्कों की अवहेलना नहीं की जा सकती।

किन्तु श्री दानी के ये तर्क सबल नहीं प्रतीत होते। ब्राह्मी का प्रयोग प्राकृत भाषाओं के लिखने के लिए किया गया है जिसमें संस्कृत के कम अक्षर विद्यमान हैं। दूसरे जिन 22 अक्षरों का ब्राह्मी से चुनाव कर उत्तरी सेमेटिक (अरमेइक) अक्षरों से समता स्थापित करने का प्रयास किया गया है, उस चुनाव का कोई आधार नहीं प्रतोता। लगता है यह चुनाव मनमाने ढंग से किया गया है। तीसरा

तर्क तो अत्यन्त ही निर्बल है क्योंकि अशोक द्वारा प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के वाह्य आकारों तथा ध्वनियों की समता किन्हीं भी फिनीशियन अक्षरों से नहीं की जा सकती। अतः डॉ० वर्मा का विचार है ब्राह्मी को किसी अन्य संस्कृति का मुखापेक्षी नहीं बनना पड़ा।

ऊपर के इन विभिन्न तर्कों के आधार पर यही निश्चित होता है कि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव पूर्णतया भारतीय है। इसका सम्बन्ध किसी भी विदेशी (उत्तरी सेमेटिक) अक्षर से नहीं किया जा सकता।

(2) दक्षिणी सेमेटिक—दक्षिणी सेमेटिक लिपि से, कुछ विद्वानों के विचार में, इस भारतीय लिपि का उद्भव हुआ है। इस दिशा में मत प्रतिपादित करने वाले विचारक हैं—टेलर, डीके, कैनन आदि।

यद्यपि भारत तथा अरब के बीच व्यापारिक सम्बन्ध चिर अतीत से था परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध का भारतीय लिपि पर कोई भी प्रभाव तब तक परिलक्षित नहीं होता है जब तक इस्लाम धर्म के प्रचारार्थ अरबों ने भारतीय सीमा में प्रवेश नहीं किया। साथ ही भारतीय, और अरबी अक्षरों की समता पूर्णतया नगण्य है। इस आधार पर डॉ० पाण्डेय का विचार है कि दोनों के बीच समता स्थापित करने की बात हास्यास्पद है।

फोइनीशियन उद्भव का सिद्धान्त—उत्तरी सेमेटिक उद्भव के मानने वाले विद्वान बेवर, बेन्फे, जान्सन आदि ब्राह्मी अक्षरों का उद्भव फोइननीशियन लिपि से निर्धारित किया है। इसका कारण यह बताया गया कि ब्राह्मी अक्षरों में से एक तिहाई अक्षर फोइनीशियन अक्षरों के समरूप हैं। पर दूसरे तिहाई अक्षर भी किन्हीं रूपों में अनुरूप बताए जाते हैं यद्यपि ये पूर्णतया समरूप नहीं हैं। शेष अक्षर लगभग समान हैं। यथा—

फोइनीशियन अक्षर	ब्राह्मी अक्षर
ट	थ
ट	ट
झ	झ
क	क
ग	ग

इन अक्षरों की तालिका को देखने से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी तथा फोइनीशियन अक्षरों में बहुत हद तक समता है। पर इस समता को देखते हुए भी यह विचार ग्रहण करना कि भारतीय ब्राह्मी फोइनीशियन लिपि की उपज है, कुछ समुचित नहीं प्रतीत होता। इस असुविधा के कारण निम्नांकित हैं—

(1) जिस समय ब्राह्मी लिपि का उद्भव हुआ, उस समय भारत का सम्बन्ध फिनिशिया से नहीं था।

(2) ब्राह्मी लिपि के उद्भव के समय तक फिनिशिया में किसी भी लिपि का विकास नहीं हुआ था।

(3) फिनीशियन से भारतीयों ने लेखन-कला सीखी अथवा इसके विपरीत भारतीयों से फिनीशियन ने सीखी, यह अभी भी समस्या है। इसका कारण यह है कि फिनीशियन भारत के ही आदिवासी थे, इन्हीं को ऋग्वेद में पणि कहा गया है।

(4) फिनीशियन तथा पश्चिमी एशिया के सेमेटिक अक्षरों में समता का पूर्ण अभाव दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार ब्राह्मी की उत्पत्ति फोइनीशियन आधार पर स्वीकार करना बहुत ही अप्रामाणिक प्रतीत होता है।

ब. भारतीय उद्भव का सिद्धान्त

ऊपर हमने ब्राह्मी लिपि के विदेशी उद्भव के कथित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन में कोई भी तर्क की कसौटी पर इतना उचित नहीं उतरा कि ब्राह्मी को विदेशी उद्भव का सिद्ध किया जा सके। अतएव इन तर्कों को छोड़कर अब दूसरे पक्ष, भारतीय सिद्धान्तों का सर्वेक्षण किया जाय तो हो सकता है कि तथ्य की स्पष्टता ज्ञात हो सके।

परन्तु यह बात स्पष्ट रूप में समझ लेनी चाहिए कि भारतीय उद्भव के सिद्धान्त में भी भारतीय तथा विदेशी विचारकों में एकता नहीं है। मूल रूप से ये विचारक दो वर्गों में विभक्त हैं और दो भिन्न भारतीय केन्द्रों से इसके उद्भव को निर्धारित करते हैं। एक वर्ग इसका उद्भव द्रविड़ स्रोत से बताता है और दूसरा वर्ग वैदिक अथवा आर्य स्रोत से। अतएव इन वर्गों के मतों का अलग-अलग अध्ययन करने के पश्चात् ही इस पर निर्णय दिया जा सकता है।

(क) द्रविड़ उद्भव का सिद्धान्त—इसके जन्मदाता हैं लैसेन महोदय। इन्हीं के विचारों के आधार पर एडवर्ड थामस ने इसका उद्भव दक्षिणी भारत की द्रविड़ जाति से बताया है। यह धारणा सम्भवतः इस आधार पर आधारित है कि द्रविड़ भारत के आदिवासी थे तथा आर्य विदेशी थे। इन्होंने आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में एक लिपि का आविष्कार किया था।

परन्तु यह सम्पूर्ण सिद्धान्त कल्पना पर आधारित है। इसलिए इसकी वास्तविकता संदिग्ध है। पुनः ब्राह्मी लिपि उत्तरी भारत में फैली तथा इसके अत्यधिक प्रमाण उत्तरी भारत में ही मिलते हैं, जबकि द्रविड़ों का आदि स्थान दक्षिणी भारत था। इसके अतिरिक्त द्रविड़ भाषा में केवल प्रथम तथा पंचम अक्षरों का ही प्रयोग होता है, जबकि आर्य भाषा में पाँचों अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। ध्वनि शास्त्र के आधार पर भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मी से तमिल लिपि का विकास हुआ अर्थात् दक्षिण की लिपियाँ उत्तर से ही फैली जिनमें स्थानीय भिन्नता के कारण व्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

(ख) आर्य या वैदिक उद्भव का सिद्धान्त—विचारकों के दूसरे वर्ग के अनुसार ब्राह्मी का उद्भव आर्यों से सम्बद्ध किया गया है। वैदिक काल से इसका प्रारम्भ निश्चित किया जाता है। इस पक्ष के प्रतिपादक हैं—कनिंघम तथा डाडसन। कनिंघम महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि मानव जाति के लेखन का प्रथम प्रयास भावाभिव्यक्ति के लिए चित्रों के माध्यम से किया गया होगा। इस आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय ब्राह्मी का भी प्रारम्भिक रूप चित्रात्मक रहा होगा जो पीछे पदात्मक और फिर अक्षरों के रूप में विकसित हुआ। उनका यह भी विश्वास है कि यद्यपि भारतीय अक्षर उद्भव में पूर्णतया भारतीय हैं फिर भी भारतीयों ने अपनी इस व्यवस्था को मिस्र से अनुकरण किया है।

परन्तु कनिंघम का यह विचार पूर्णतया भ्रामक और अमान्य है। भारतीय अक्षरों का विकास चित्रात्मक लिपि से हुआ हो ऐसी सम्भावना पूर्णतया भ्रामक है। ब्यूलर महोदय ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भारतीय लिपि के इतिहास में कहीं भी चित्रात्मक लिपि का इतिहास नहीं है। सिन्धु घाटी के कला उपलब्धियों से प्राप्त अक्षरों के आधार पर भले ही हम यह सोच लें

कि यहाँ चित्रात्मक लिपि का प्रयोग हुआ है, परन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि ये अक्षर न तो चित्रकारी लिपि से सम्बन्धित हैं और न गूढ़ाक्षरों से। इसकी स्पष्टता डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार के सिन्धु घाटी के अक्षरों के अध्ययन से ज्ञात होती है। इसके साथ ही ये गूढ़ाक्षर भी नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए डॉ० मार्शल का यह विचार है कि सिन्धु घाटी के अक्षरों से ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है।

डॉ० आर० शामशास्त्री ने भी ब्राह्मी लिपि के भारतीय उद्भव के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होंने ब्राह्मी अक्षरों के विभिन्न चिह्नों को देवों तथा देवनगर के चिह्नों से सम्बन्द्ध किया है तथा इसकी पुष्टि तांत्रिक ग्रन्थों के आधार पर की गयी है। उनका विचार है कि गूढ़ाक्षरों का उल्लेख जिन पत्रों तथा प्लेटों पर किया गया है, उन पर त्रिकोण तथा वृत्ताकार चिह्न बने हैं तथा देवता और देवियों की भी आकृतियाँ अंकित हैं। इनको 'देवानाम् नगरम्' कहा जाता है। इसीसे इसका विकसित रूप आधुनिक भारतीय वर्णमाला 'देवनागरी' है। परन्तु इनके विचारों के आधार एकमात्र तांत्रिक ग्रन्थ हैं। तन्त्र के ग्रन्थ बहुत बाद के लिखे हैं तथा इनमें निर्दिष्ट प्रतीक बड़े ही जटिल एवं अस्पष्ट हैं। इसलिए इतने अस्पष्ट सिद्धान्त पर आधारित कोई निष्कर्ष किसी भ्रामक दिशा को ही परिलक्षित कर सकता है। अतः यह सिद्धान्त मान्य नहीं प्रतीत होता है।

भारतीय उद्भव के दूसरे सिद्धान्त के सबल समर्थक हैं—जॉन डाडसन। इनके अनुसार इस भारतीय लिपि की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो कि विश्व की किसी भी दूसरी लिपि से मेल नहीं खाती। उनकी यह भी धारणा है कि इस भारतीय लिपि का विकास गंगा किनारे ही कहीं हुआ होगा जहाँ से यह विश्व के विभिन्न भागों में धीरे-धीरे फैलती गयी। सेमेटिक से इसका अन्तर बताते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि जहां सेमेटिक जाति के लोग अपनी लिपि दाहिने से बाएँ की ओर लिखते हैं वहीं भारतीय ठीक इसके विपरीत बाएँ से दाएँ की ओर लिखते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि भारतीय लिपि 'हिन्दुओं की खोज' है।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने भाषा विज्ञान के विवेचन के आधार पर ध्वनि शास्त्र के सहारे यह धारण व्यक्त की है कि अक्षरों का विकास ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था। इसी पक्ष के दूसरे समर्थक हैं—डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० राजबली पाण्डेय आदि। ओझा जी ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के निर्माण में कोई भी विदेशी प्रभाव स्वीकार ही नहीं किया जा सकता।

कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि ब्राह्मी का उद्भव हड़प्पा की लिपि से हुआ है। इसके सर्वप्रथम संस्थापक श्री लैगडम महोदय हैं। इनका समर्थन हण्टर महोदय ने भी किया है। परन्तु यह धारणा कुछ बहुत समुचित नहीं प्रतीत होती है जैसा कि ऊपर कहीं-कहीं व्यक्त किया गया है। सबसे बड़ी कठिनाई इस मत के स्वीकार करने में यह है कि हड़प्पा की सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच में एक बड़ी खाई है, समय की। इसको कैसे पाटा जाय कि विकास की क्रमिकता की गति स्थापित किया जा सके, यह एक जटिल समस्या है।

ऊपर के विचारों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया होगा कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव पूर्णतया भारतीय है। यह बात दूसरी है कि इसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार सिन्धु घाटी की लिपि से नहीं जोड़ा जा सकता। किन्तु वैदिक काल से इसका विकास निर्विवाद रूप से स्थापित किया जा सकता है। फिर भी इस पक्ष के कटु आलोचक हैं पश्चिमी विचारक डॉ० डेविड डिरिंजर। इन्होंने

निम्नांकित तर्क अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है—

(i) एक ही साथ एक ही देश में दो विभिन्न लिपियों का प्रचलन यह नहीं सिद्ध करता कि दोनों एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं।

(ii) वैदिक काल में लिखने की किसी व्यवस्था का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। लेखन कला का विकास भारत में बौद्ध काल से ही स्वीकार किया जा सकता है।

(iii) अभिलेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मी के लेखन की कला का प्रयोग छठी शताब्दी ई॰ पू॰ से प्रारम्भ हुआ।

(iv) भारतीयों ने ब्राह्मी लिपि पश्चिमी विश्व से सीखी थी। यह हिन्दुओं का आविष्कार नहीं है परन्तु उन्होंने अनुकरण किया है।

(v) सिन्धुघाटी की लिपि में अक्षरों का प्रयोग बिल्कुल नहीं है।

परन्तु डॉ॰ डिरिञ्जर के सभी तर्क निम्नांकित आलोचनाओं पर धराशायी हो जाते हैं—

(i) दोनों लिपियाँ यद्यपि एक ही देश में प्रचलित थी, परन्तु दोनों का विकास दो विभिन्न युगों में हुआ। इसलिये एक का सम्बन्ध दूसरे से स्थापित करना बड़ा स्वाभाविक है।

(ii) डॉ॰ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार प्रारम्भ से ही वेद लिखित थे। इन्हें श्रुति केवल इसलिए कहा जाता है कि प्राचीन काल में इस लिखित ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लिया जाता था।

(iii) छठी शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले की एक युगल मूर्ति मिली है जिसमें एक पुरुष और एक स्त्री साथ खड़े हैं। इसमें स्त्री के हाथ में मुड़ी हुई एक पुस्तक है। इससे स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ई॰ पू॰ के पहले लेखन-कला का प्रचलन हो चुका था।

(iv) भारत ने किस पश्चिम देश से लिपि का अनुकरण किया यह विवादास्पद है। ऊपर के विचारकों के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध है कि ब्राह्मी भारतीयों का आविष्कार है।

(v) ऊपर के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि सिन्धु घाटी की लिपि में अक्षरों का प्रयोग किया गया है।

इन विभिन्न आधारों पर यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव भारतीय है। इसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं जो विश्व की किसी भी अन्य लिपि से मेल नहीं खाती—

(1) ब्राह्मी के अक्षर उच्चारण के आधार पर लिखे जाते हैं।

(2) यह एक स्वतन्त्र लिपि है।

(3) इसके 64 चिह्न हैं।

(4) इसमें दीर्घ तथा ह्रस्व मात्राओं का प्रयोग मिलता है।

(5) इसमें अनुस्वार (ं), अनुनासिक (ँ) तथा विसर्ग (:) का प्रयोग किया जाता है।

(6) अक्षरों का ध्वनि सम्बन्धी विभाजन उच्चारण के आधार पर हुआ है।

(7) चिह्नों के द्वारा स्वरों का सम्बन्ध व्यञ्जन से किया गया है।

इस लिपि के इन्हीं गुणों के आधार पर डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह एक विशिष्ट लिपि है जिसके उच्चारण तथा व्याकरण का अपना विशिष्ट स्वरूप है। अतः इसका उद्भव मूलतः भारतीय है।

●

अध्याय 3

खरोष्ठी लिपि का उद्भव

अशोक के अभिलेख लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाये जाते हैं जो ब्राह्मी लिपि में लिखे गये हैं। पर इसमें से कुछ जो भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश में मिले हैं, वे इस लिपि से भिन्न एक दूसरी लिपि में खोदे गये जो दाहिने से बायें की ओर लिखी गयी हैं। इस लिपि को पुरातत्त्वविद् ब्यूलर ने खरोष्ठी लिपि के नाम से सम्बोधित किया है। इसका प्रयोग अशोक के पहले भारतीय अभिलेखों के इतिहास में दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए बड़ी सरलतापूर्वक यह धारणा व्यक्त की जा सकती है कि अशोक के अभिलेखों में ही सबसे पहले खरोष्ठी लिपि के प्रयोग का प्रचलन मिलता है। इसके साथ ही इस लिपि की यह अपनी विशेषता है कि इसका विकास तथा विस्तार हम पश्चिमी देशों, यथा—अफगानिस्तान, मध्य एशिया आदि में ही पाते हैं जबकि शेष भारतीय लिपियों का प्रयोग केवल भारतीय सीमा तक ही सीमित रहा तथा इनका प्रसार भी यहीं हुआ। पर खरोष्ठी लिपि का प्रयोग बहुत अल्प काल तक सीमित क्षेत्र में ही दिखाई पड़ता है जबकि ब्राह्मी का इतिहास एक लम्बे काल का इतिहास है तथा इसका प्रयोग बहुत व्यापक रूप में हुआ है। खरोष्ठी नाम भी भारतीय बोलचाल की भाषा में बड़ा विचित्र लगता है। इसलिए सहसा यह कुतूहल जाग्रत हो जाता है कि इस लिपि विशेष का नाम खरोष्ठी क्यों हुआ तथा इसका उद्भव कहाँ हुआ था ?

खरोष्ठी का नाम विभिन्न भारतीय तथा विदेशी ग्रन्थों में पाया जाता है। चीनी विश्वकोश, 'फा-वान-शु-लिन' में खरोष्ठी नाम का उल्लेख मिलता है। भारतीय बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में भी, जहाँ लिपियों की सूची दी गयी है, खरोष्ठी लिपि का उल्लेख है। इसका नाम सातवीं शताब्दी तक चीनी ग्रन्थों में प्रयोग किया गया है। दायें से बायें लिखी जाने वाली भारतीय सीमा की इस लिपि को बैक्ट्रियन, काबुली, गान्धारी, बैक्ट्रोपाली, एरियानो-पाली आदि भारतीय सीमा प्रदेश के स्थानों के नाम के साथ जोड़कर सम्बोधित किया जाता था। किन्तु जार्ज ब्यूलर ने सर्वप्रथम इसे इस नाम विशेष से सम्बोधित किया था।

नामकरण

खरोष्ठी के नामकरण के सम्बन्ध में साधारणतया अनेक धारणाएँ विद्वत्-समाज में प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शू-लिन' यह प्रतिपादित करता है कि चूँकि इस लिपि का अन्वेषक खरोष्ठ (खर-ओष्ठ) अर्थात् गदहे की तरह होंठ वाला व्यक्ति था इसी से इसे खरोष्ठी कहा गया। दूसरे वर्ग के विचारकों ने यह मत दिया है कि खरोष्ठ एक जंगली जाति थी। वही इन अक्षरों का प्रयोग करती थी। इसलिए इसको अन्वेषक के नाम के पीछे, खरोष्ठी कहा गया। एक वर्ग के अनुसार खरोष्ठी ईरानी शब्द खरपोष्ट से बना है। खरपोष्ट से अभिप्राय है गदहे की खाल से। संभवतः यह गदहे के चमड़े पर पहले लिखा जाता होगा इसी से इसका नाम खरपोष्ट के आधार पर खरोष्ठी पड़ा होगा। यह भी सम्भावना है कि गदहे के सूखे चमड़े की तरह चूँकि इसकी आकृति टेढ़ी-मेढ़ी

होती थी इसी से इसको खरोष्ठी कहा गया। इस प्रकार के एक नहीं अनेक विचार खरोष्ठी लिपि के नामकरण के समबन्ध में प्रतिपादित किए गये हैं। ये विचार कहाँ तक सत्य है नहीं कहा जा सकता। पर डॉ॰ राजबली पाण्डेय की यह धारणा सत्य के अधिक समीप प्रतीत होती है कि पहले यह नाम व्यंग्य में इसके लिए प्रयुक्त किया जाता होगा पीछे चलकर यही इसका प्रचलित नाम स्वीकार कर लिया गया होगा क्योंकि इसका कोई दूसरा नाम किसी भी अन्य आधार से ज्ञात नहीं होता।

प्रयोग काल एवं क्षेत्र

पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार खरोष्ठी का प्रयोग अशोक के समय से हमको मिलता है। जैसा ऊपर वर्णित है, पश्चिमोत्तर सीमा पर अशोक के कुछ अभिलेख इस लिपि में पाये गये हैं। इस समय से लेकर बाद के कुषाण शासकों के समय (चौथी शताब्दी) तक इस लिपि के अभिलेख मुद्रालेख स्फुट रूप से मिलते हैं। इसके बाद भारतीय सीमा में इस लिपि के प्रयोग का कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। किन्तु इसके बाद इस लिपि के प्रचलन का लोप संसार से हो गया ऐसा भी नहीं है। इसके बाद भी चीनी तुर्किस्तान में कुछ और समय तक इसका प्रचलन था।

जैसा ऊपर कहा गया है यह लिपि पूर्वी भारत तथा मध्यदेश तक भी अपने प्रचलन के समय नहीं पहुँच सकी थी। इसका मूल विस्तार क्षेत्र था भारत की तत्कालीन पश्चिमोत्तर सीमा जो अब पश्चिमी पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान के नाम से जानी जाती है। चीनी तुर्किस्तान तक इसके प्रसार के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। भारत के भीतरी भाग में पंजाब, मथुरा तथा सिद्धपुर से भी खरोष्ठी के लेख उपलब्ध हुए हैं। किन्तु न उसके आगे मिले हैं और न व्यापक रूप से ही वहाँ पाये गये हैं। इसका अंकन सिक्कों, प्रस्तर खण्डों, बर्तनों पर विशेष रूप से हुआ है। यों तो खोतान से प्राप्त धम्मपद पुस्तक की एक प्रति भी इस लिपि में मिली है जो भोजपत्र पर लिखी हुई है। डॉ॰ ब्यूलर का यह अनुमान है कि यह ग्रन्थ कुषाण शासन काल में गांधार में लिखा गया होगा।

यही कारण है कि यह अल्पायु लिपि जो अल्प क्षेत्रीय भी थी सहसा विनष्ट हो गई। इसके बाद इसका कोई चिह्न यहाँ छूटा हुआ नहीं मिलता है, साथ ही इसके विविध रूप भी ब्राह्मी की तरह नहीं दीखते जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस लिपि का विकास नहीं हुआ। यह अपने मूलरूप में ही समाप्त हो गई। ब्यूलर ने इसके समाप्त होने का एक और तर्क दिया है कि यह साहित्यिक लिपि नहीं थी। इसका प्रयोग समाज में किसी प्रयोजन के लिए ही की जाती थी। किन्तु इस मत के विरोध में डॉ॰ ठाकुर प्रसाद वर्मा का तर्क है कि यद्यपि इसका प्रयोग प्राकृत भाषा के अभिव्यक्ति के लिए किया जाता था, फिर भी संस्कृत साहित्य को लिखने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता था। यह आरोप इस पर अवश्य लगाया जा सकता है कि ब्राह्मी के साथ प्रयोग होने वाली यह लिपि अत्यन्त ही जटिल एवं दुरूह थी जिससे साधारण प्रयोग में इसे लाना कठिन लगता है।

उद्भव के सिद्धान्त

इस लिपि का उद्भव कहाँ हुआ? यह प्रत्येक पुरालिपि के विद्यार्थी के लिए समस्या बना हुआ है। इस समस्या पर दो पक्षों में विचार किया गया है। विचारकों का एक वर्ग इसके विदेशी उद्‌भव पर जहाँ बल देता है वहीं दूसरा वर्ग इसके भारतीय उद्‌भव की दुहाई देता है। इसलिये यहाँ क्रम से दोनों पक्षों का अध्ययन करना आवश्यक है।

अ. विदेशी उद्‌भव का सिद्धान्त

ब. भारतीय उद्‌भव का सिद्धान्त

(अ) विदेशी उद्‌भव का सिद्धान्त—आज भी प्रायः सभी भारतीय लिपियाँ बाएँ से दायें लिखी जाती हैं। किन्तु भारत में अशोक के समय प्रयोग होने वाली ब्राह्मी लिपि जहाँ बाएँ से लिखी जाती थी वहीं खरोष्ठी दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती थी जिस प्रकार उत्तरी सेमेटिक शाखा की अरमेइक लिपि। कुछ अरमेइक अक्षरों की तरह खरोष्ठी अक्षर भी दिखते हैं। अतः इन प्रत्यक्ष उदाहरणों के आधार पर जार्ज ब्यूलर तथा दानी महोदय ने इसके विदेशी उत्पत्ति की बात सिद्ध करने की वकालत की है। इसकी पुष्टि में इन्होंने निम्नांकित तर्क दिये हैं—

(1) ईरानी आक्रमण के बाद खरोष्ठी लिपि का प्रयोग पश्चिमी भाग में पाया जाता है।

(2) इसका प्रयोग भारत के उसी क्षेत्र में हम पाते हैं जहाँ ईरानी आधिपत्य छठी शताब्दी ई॰ पू॰ के उत्तरार्द्ध से चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ तक विद्यमान था।

(3) पारसीक शासकों ने इस लिपि का उपयोग अपनी प्रशासनिक व्यवस्था के लिये किया था।

(4) खरोष्ठी और सेमेटिक लिपि के अक्षरों में बहुत कुछ समता दिखती है, जैसे—दीर्घ स्वरों का अभाव।

(5) अरेमयिक लिपि की तरह यह दायें से बायें की ओर लिखी जाती है।

(6) खरोष्ठी के अभिलेखों में कुछ ईरानी शब्द प्रयुक्त हैं, जैसे—लेखन या लेख के लिए 'दिपि' शब्द का उल्लेख।

ईरानी और भारतीय दफ्तरों में पत्र-व्यवहार के लिए अरमेइक अक्षरों का व्यवहार शुरू हुआ। बाद में पुरानी ब्राह्मी के अनुसार इस लिपि में कुछ क्रम का परिवर्तन प्रारम्भ हुआ जिस क्रम में खरोष्ठी लिपि निकली।

किन्तु ये सभी तर्क डॉ॰ पाण्डेय द्वारा खण्डित किए जा चुके हैं। पहले तर्क के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि पर्शियन सिग्लास में खरोष्ठी अक्षरों का लिखा जाना इस बात को सिद्ध करता है कि ईरानी आक्रमण के पहले खरोष्ठी एक विकसित लिपि के रूप में यहाँ विद्यमान थी। दूसरे हमको एक भी अभिलेख ईरानी शासकों का उस क्षेत्र मे उपलब्ध नहीं होता जो भारत में उनके अधीन था। तीसरे डॉ॰ मजुमदार के अनुसार यह संदिग्ध है कि भारत कभी भी ईरानी प्रशासन में रहा हो। यदि रहा होता तो जैसा ऊपर कहा गया है कोई-न-कोई ईरानी प्रशासनिक आज्ञा यहाँ अवश्य प्राप्त होती। चौथे खरोष्ठी में दीर्घ स्वरों के अभाव का कारण यही रहा होगा कि इसका आविष्कार प्राप्त भाषा में लिखने के लिए किया गया हो, जिसमें दीर्घ स्वर स्वतः नहीं मिलते। यह तो सत्य है कि यह दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यह अरमेइक लिपि से ही मिलती है जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। अरमेइक लिपि का ही केवल एक मात्र एकाधिकार नहीं है कि अक्षर दाएँ से बाएँ उसी में लिखे जायं। 'दिपि' को ईरानी शब्द स्वीकार करना ब्यूलर की एक महान भूल प्रतीत होती है। संस्कृत में 'दिप' शब्द का प्रयोग बहुलता से पाया जाता है तथा विभिन्न रूपों में। इसका अर्थ है 'चमकाना'। चमकते हुए अक्षरों के लिए दीप या दिपि शब्द का प्रयोग पूर्ण स्वाभाविक है। अंतिम तर्क तो स्वयं ही स्पष्ट करता है कि यह भारतीय उद्‌भव की भाषा है। साथ ही यह

कल्पना है कि ईरानी दफ्तरों से पत्र व्यवहार के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। ब्राह्मी की भारतीय उत्पत्ति सिद्ध हो चुकी है फिर उसकी तरह इसकी विदेशी उत्पत्ति की बात स्वतः अपने में ही निराधार है। अतः यह सिद्ध करना कि खरोष्ठी का अरमेइक लिपि से उद्‌भव हुआ है, एक मात्र श्रमसाध्य प्रयास है। भारतीय अरमेइक लिपि से परिचित थे जो ईरानी सम्पर्क के द्वारा भारतीयों को ज्ञात थी। इसका स्पष्ट प्रमाण अशोक के अरमेइक लिपि के दो अभिलेख हैं जो तक्षशिला तथा गांधार (अफगानिस्तान) से प्राप्त हुए हैं। यह एक ही साथ अरमेइक और खरोष्ठी लिपियों के साथ-साथ प्रयोग एक-दूसरे का उद्‌भव नहीं सिद्ध करती अपितु दोनों का स्वतंत्र लिपि के रूप में विकास होना सिद्ध करती है। यह बात दूसरी है कि इन दोनों लिपियों में कुछ समता रही हों। पर यह अस्वाभाविक भी नहीं है। ऐसी समता प्रायः मिलती है।

(ब) भारतीय उद्‌भव का सिद्धान्त

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खरोष्ठी न कोई विदेशी लिपि है अथवा न इस पर कोई विदेशी प्रभाव ही पड़ा है। तो फिर यह पूर्णतया एक भारतीय लिपि है। इस मत की पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(1) खरोष्ठी लिपि के प्रारम्भिक अभिलेख उत्तरी-पश्चिमी भारत में ही पाये गये हैं। पश्चिमी एशिया में इसका एक भी अभिलेख या लिखित प्रमाण नहीं मिला है।

(2) ईरानी शासक जिनको खरोष्ठी के उद्‌भव का स्रोत बताया जाता है उन्होंने कभी भी अरमेइक लिपि का प्रयोग अपने प्रशासनिक कार्यों के लिए नहीं किया।

(3) मध्य एशिया में खरोष्ठी लिपि के कुछ अभिलेख तथा लिखित प्रमाण अवश्य मिले हैं। किन्तु यह कहना कि भारतीय खरोष्ठी पहले वहाँ थी उचित नहीं है क्योंकि खरोष्ठी लिपि का प्रयोग सबसे पहले अशोक कालीन भारत में ही मिलता है। उसके बाद के युगों में यह मध्य एशियाई देशों में पायी जाती है। इससे सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि यह लिपि भारत से पश्चिमी एशिया की ओर फैली।

(4) खरोष्ठी लिपि में एक बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' की पाण्डुलिपि चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त हुई है। इस संदर्भ में यह कह सकते हैं कि यदि खरोष्ठी विदेशी लिपि रही होती तो इसमें विदेशी ग्रंथ मिलते किन्तु इस लिपि में भारतीय ग्रंथों का मिलना इस बात को सिद्ध करता है कि यह भारत की लिपि थी जिसका प्रयोग भारतीय ग्रंथों के रचना के लिए विदेशों में भी किया जाता था।

(5) इसमें अनुस्वार तथा संयुक्ताक्षरों का प्रयोग पाया जाता है। अनुस्वार का प्रयोग प्रधानतया भारतीय देन है तथा संयुक्ताक्षरों के भी प्रयोग की भारतीयों की अपनी विधि है। इन दोनों का अनुसरण भारतीय अन्य लिपियों के परिप्रेक्ष में खरोष्ठी द्वारा किया जाना इसके भारतीय उद्‌भव के संदेह का स्थान ही नहीं छोड़ता है।

(6) यह लिपि भारत के पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेशों में प्रचलित थी। वह भाग सदा बलाधिकारियों द्वारा आक्रान्त रहा। ये बलाधिकारी, जैसा इतिहास बताता है, मूलतः मध्य एशिया से ही होकर आये थे। अतः इनके साथ यह लिपि मध्य एशिया की ओर बढ़ी तथा इसने अपना एक क्षेत्र बना लिया। इसलिए इस लिपि का प्रयोग भारतीय सीमा में बसने वाले बलापहारी यूनानी, बख्त्री, शक, पह्लव जाति के लोगों ने किया है। ईरानी मुहरों पर भी इस लिपि का अंकन इसी बात

को स्पष्ट करता है कि इस मुद्रा का प्रचलन पश्चिमी भारत में था। चूँकि वहाँ की प्रचलित लिपि खरोष्ठी थी इसी से वहाँ के सिक्कों पर इसका अंकन किया गया है।

(7) चीनी विश्वकोष फा-वान-शु-लिन के अनुसार भारत की लिपियों में खरोष्ठी भी एक लिपि बताई गई है जो दाएँ से बाएँ ओर लिखी जाती है।

(8) इस लिपि का जन्मदाता 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति माना जाता है। खरोष्ठ शब्द पूर्णतया भारतीय लगता है।

(9) अगर यह विदेशी लिपि रहती तो भले ही भारत में इसका लेखन समाप्त हो जाता किन्तु पड़ोसी विदेश में तो चलता रहता। पर हम देखते हैं कि गुप्त साम्राज्य के समय व्यापक प्रचलन की लिपि ब्राह्मी को ही एक मात्र प्रश्रय मिला जिससे खरोष्ठी का चलन बन्द हो गया। इसके साथ ही, इसका कोई भी उल्लेख भारत के बाहर के देशों में व्यापक रूप से इसके चलन का नहीं मिलता।

(10) इस लिपि का सम्बन्ध बलापहारी शक्तियों के साथ होने तथा उनके द्वारा इसके उपयोग किये जाने का एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि यह भारत के उस क्षेत्र में प्रचलित थी जो विदेशी बलापहारियों के अधीन बहुत दिनों तक बनी रही।

इन तर्कों के सम्मुख वास्तव में यही सत्य है कि यह भारतीय लिपि थी जिसका उदय, विकास और अन्त सब भारत में हुआ।

अध्याय 4

ब्राह्मी लिपि का विकास

भारतीय लिपि की कथा का ज्ञान अत्यन्त काल का है। पर बहुत पहले से हम अपनी पुरानी लेखन विधियों को भुलाने की स्थिति में रखा गया था जिससे विदेशी सत्ता का आधार हम पर बना रहे। इस अध्ययन के क्रम का प्रारम्भ अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराए गए उसकी धम्म लिपियों से होता है जो ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गये हैं। यों तो कुछ अभिलेख जैसे—सोहगौरा, पिपरहवाँ आदि से प्राप्त हुए हैं जो अनिश्चित रूप से अशोक से पहले के कहे जाते हैं पर उससे हमारे अध्ययन की क्रमिक कड़ी नहीं बैठती। उससे भी पहले सिन्धु घाटी से लिपि का विकास माना जा सकता है। किन्तु वे रेखांकन किस लिपि में किये गये हैं तथा उसके बाद अशोक के समय तक उनके विकास की अवस्थाएँ क्या रही यह एक लुप्त गाथा मात्र बनकर रह जाती है। इस कड़ी को जोड़ना अभी सम्भव नहीं हो सका है। अतः भारतीय लिपि के विकास की कथा का श्रीगणेश अशोक के काल से ही होता है। इसमें भी ब्राह्मी लिपि के विकास की ही अवस्थाएँ हमें ज्ञात होती हैं, खरोष्ठी का नहीं, क्योंकि खरोष्ठी एक अविकसित लिपि के रूप में कुछ सीमित क्षेत्र में थोड़े दिनों तक जीवित रहकर समाप्त हो गई जबकि ब्राह्मी एक लम्बे समय तक भारत के व्यापक क्षेत्र में अपने परिवर्तित रूप के साथ जीवित रही।

ब्राह्मी लिपि की कुछ मौलिक विशेषताएँ सामान्यतया दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे—इनका अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक कोणाकार होना, पीछे इनमें टेढ़े-मेढ़े अक्षरों का प्रयोग भी किया जाना आदि। प्रारम्भ में इनमें दीर्घ मात्राओं का कुछ अभाव-सा दिखता है विशेषतः ई, आदि का। अनुस्वार का प्रयोग भी इसमें प्रारम्भ में नहीं के ही बराबर था। यहाँ दोहरे व्यञ्जनों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता है यथा पक्का के स्थान पर 'पका' अर्थात एक व्यञ्जन से ही काम निकालने की परिपाटी का चलन था।

मौर्य कालीन ब्राह्मी लिपि

अशोक के समय से अभिलेखों की व्यापक परम्परा का ज्ञान प्राप्त होता है। ये एक विशेष शैली में सम्पूर्ण भारत में ब्राह्मी लिपि में खोदे गए हैं जबकि शहबाजगढ़ी तथा मानशेहरा (जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में पड़ गए हैं) के लेख खरोष्ठी लिपि में और अफगानिस्तान से प्राप्त अरमेइक तथा यूनानी लिपि में मुद्रित है। इनमें ब्राह्मी लिपि वाले ही यहाँ हमारे अध्ययन की सामग्री है। ये लेख, शिला, स्तम्भ, फलक और गुहाओं में अंकित है। इनकी भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। ये राजाज्ञाएँ हैं जो सर्वत्र एक ही रूप में पाई गई हैं। यह बात भी दिखाती है कि स्थान-स्थान पर लेखन की बनावट में थोड़ा अन्तर ज्ञात होता है। इस आधार पर डॉ॰ ब्यूलर तथा डॉ॰ पाण्डेय ने इसके लेखन में स्थानीय प्रकारों का अनुमान लगाया है। किन्तु महामहोपाध्याय पं॰ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसमें स्थानीय प्रभाव को बहुत ही आंशिक रूप में स्वीकार किया है और विभेद का कारण लेखकों के हाथों का

कौशल या सजावट की गति माना है। डॉ॰ चन्द्रिका सिंह उपासक आदि बाद के अन्वेषकों ने यह तथ्य खोज निकाला है कि अशोक कालीन ब्राह्मी की उपशाखायें अथवा क्षेत्रीय प्रकार नहीं बनी थीं। भिन्नता का कारण स्थानीय लेखकों के हाथ का अन्तर मात्र रहा होगा। इसकी पुष्टि स्वतः अशोक के अभिलेखों के विभिन्न वर्गों पर अंकित लिपि को देखने मात्र से ही हो जाती है। उसके शिलालेखों की लिखावट भद्दी हैं, पंक्तियाँ कुछ टेढ़ी हैं, अक्षरों की बनावट कुछ कोणाकार हैं आदि। इनसे ज्ञात होता है कि पत्थरों पर अंकन के लिए स्थानीय कलाकारों का उपयोग किया जाता था जिससे भद्दापन दिखता है। ठीक यही बात गुहा लेखों में भी दिखती है। किन्तु उसके फलक लेख जो एकमात्र भाब्रा से मिलता है शिलालेखों एवं गुहालेखों की अपेक्षा अधिक सुन्दर, स्वच्छ और कलात्मक है। इससे भी अच्छा लेखन हमको अशोक के स्तम्भों पर मिलता है जो सीधी रेखाओं में, मानक अक्षरों में, साफ-साफ, कलात्मक तथा स्पष्ट अंकन में खुदे दीखते हैं। सम्भवतः राजकीय कलाकार इसके अंकन के लिए प्रयोग किये जाते होंगे तभी यह विभेद यहाँ दिखता है।

इस समय की ब्राह्मी अक्षरों की विशेषताएँ निम्न हैं—

1. इसके अक्षर सीधी रेखा में बने हैं तथा मोड़ कर कोणाकार बनाए जाते हैं। किन्तु कहीं-कहीं गोलाकार आकृति भी इनकी दीखती है यथा—

⅄ → ⅄ (त) ʌ → ⌒ (ग) आदि।
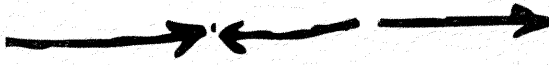
2. अक्षरों की ऊँचाई लगभग समान बनाई गई है, यथा— + ⅄ ⊡ आदि।
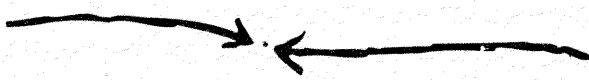
3. इसको बनाये रखने के लिए संयुक्ताक्षरों के लेखन में भी अक्षरों की आकृति को छोटा करके ऊँचाई में समता बनाने का प्रयास किया गया है। यथा—

(भ्य), (म्य) आदि।

4. पंक्तियाँ पूर्णतया सीधी रखने का प्रयास किया गया है, फिर भी कभी-कभी उनमें टेढ़ापन दिखाई पड़ जाता है जैसे—नीचे एरागुड्डी वाले अभिलेख की पंक्ति से स्पष्ट हो जायगा।

5. इसकी लिखावट बायें से दायें की ओर है। केवल एरागुड्डी अभिलेख में कुछ अन्तर दिखाई देता है। कहीं-कहीं एक ही पंक्ति में कुछ शब्द बायें से दायें लिखे गये हैं और कुछ दायें से बायें। यथा—

किन्तु यही प्रचलित रीति हो तथा बाद के युगों में इसी का चलन हो गया हो ऐसा भी हमको ज्ञात नहीं होता।
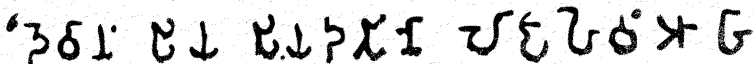
6. ये अक्षर सामान्यता नीचे की ओर ही खुले हैं। ऊपर की ओर प्रायः सीधे उठते हुए ही दीखते हैं

यथा— (ग) + (क) (क्तं) (द) आदि किन्तु म→ तथा झ→
ये दो अक्षर ही ऐसे दिखते हैं जो ऊपर की ओर मुँह खोले हुए हैं।

7. ऊपर के उदाहरणों से यह भी द्रष्टव्य है कि ये अक्षर सीधी रेखाओं से निर्मित हैं। इनके बीच में या नीचे दूसरी खड़ी या आड़ी रेखायें जोड़कर विभिन्न अक्षरों का निर्माण किया गया है, यथा—(।) -जोड़कर ('क') जोड़कर (य) जोड़कर ('ह') इत्यादि।

8. इनमें ह्रस्व, दीर्घ तथा अनुनासिक का प्रयोग समुचित रूप से प्रचलित दिखाई पड़ता है यथा—
'देवानंपिय पियदसिनो लाजा हेवं आहा,

9. इनके शिरो-भाग खुले हैं (च, छ)। इनमें किसी पर भी शिरोरेखा(हेडलाइन) का अभाव है। (I) में जो शिरोरेखा दिखती है वास्तव में वह शिरोरेखा नहीं है। (T) से भिन्नता लाने के लिए यह अक्षर की बनावट है।

10. ज्यामित आकृतियों की तरह अर्द्धवृत्त, वृत्त, कोण, खड़ी रेखा, बिन्दु आदि के सहयोग से इन के इन अक्षरों का निर्माण हुआ है, यथा—

(ट), (ठ), (ग), (र), ∴ (इ) आदि।

11. प्रायः संयुक्तक्षरों का प्रयोग बचाया गया है, किन्तु यदि कहीं हुआ है तो उनमें एक निश्चित सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। पहले उच्चारण किये जाने वाले अक्षर को ऊपर लिखते थे तथा बाद में उच्चारण किये जाने वाले अक्षर को नीचे जैसा ऊपर 3 के उदाहरण से स्पष्ट होता है। किन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। यथा— (ब्र)। किन्हीं स्थानों पर ऊपर-नीचे संयुक्ताक्षर न लगाकर मूलाक्षर के साथ ही मिलाकर बगल में लिख दिया गया है। यथा—ब्र इसके बाएँ की टेढ़ी रेखा 'र' है और शेष 'ब' का भाग है। हो सकता है कि यह लेखक की गलती रही हो।

12. लघु शिलालेख सिद्धपुर तथा एरानगुड्डी में 'अ' अक्षर जो द्रष्टव्य है वह इन दोनों में पहले अभिलेख में यह मोटा है तथा दूसरे में पतला है, यथा— , इसमें मोटाई और पतलाई सर्वत्र समान है ऐसा नहीं कि एक ही अक्षर का एक सिरा मोटा हो और दूसरा भाग पतला हो। लगता है कि किसी कतकटी कलम से नहीं अपितु शलाका से यह पहले चिह्नित करके पीछे टंकित किया गया होगा। डॉ॰ नारायण तथा ठाकुर प्रसाद ने इसे 'शलाका प्रविधि' की संज्ञा दी है।

डॉ॰ ब्यूलर आदि विचारकों का मत है कि अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि मूलतः शैली के आधार पर दो कोटियों में विभक्त की जा सकती है—उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली। यह अन्तर कुछ अक्षरों के बनावट के आधार पर ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। यह भी धारणा है कि स्थानीय प्रभाव के कारण उत्तरी ब्राह्मी शैली के अक्षरों को तीन उप-कोटियों में भी विभक्त किया जा सकता है—एक

में कौशाम्बी, निग्लवासागर, रमपुरवा आदि के अभिलेखों के अक्षर, दूसरे में भरहुत, साँची, सासराम और बरगबर आदि अभिलेखों के अक्षर तथा तीसरे में धौली, मेरठ, बैराट तथा रानी द्वारा उत्कीर्ण कराये गये गुहालेखों के अक्षर। किन्तु आधुनिक शोधकर्ता डॉ॰ ठाकुर प्रसाद, डॉ॰ चन्द्रिका प्रसाद उपासक आदि का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत उचित नहीं है। जो अन्तर हुआ है, वह मात्र आधार के अव्यवस्थित होने तथा लेखकों के कारण रहा होगा न कि शैली के अन्तर के कारण।

जैसा ऊपर कहा गया है कि इस समय उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश पर एक और लिपि प्रचलित थी जिसे खरोष्ठी की संज्ञा दी जाती है। भारत में उसके दो अभिलेख इस लिपि में खुदे हैं— शाहबाजगढ़ी और मानशेहरा। स्थान ये अब पश्चिमी पाकिस्तान में पड़े गये हैं। इस लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं—

(1) इसके अक्षर कुछ अधिक टेढ़े-मेढ़े तथा भिन्न-भिन्न ऊँचाई के हैं यथा—

(भ), (घ), (च), (क)

(2) कुछ अक्षर सीधी रेखा पर बने हैं तो कुछ तिरछी और झुकी रेखाओं पर। यथा—

(थ), (झ), (फ), (य) आदि।

(3) इसमें दीर्घ मात्राएँ नहीं हैं, यथा— आदि।

(4) अं की मात्रा अक्षर के नीचे लगती हैं— (थं)।

(5) गोल आकृतियों से निर्मित अक्षरों का बहुत कुछ अभाव ही दिखता है।

(6) कोणदार रेखाकृतियों एवं लहराती हुई रेखाओं का प्रयोग बहुतायत से दीखता है।

(7) ब्राह्मी की अपेक्षा इसके अक्षरों को अभ्यास करने तथा याद रखने में अत्यन्त कठिन हैं।

किन्तु इस लिपि का आगे विकास नहीं हो सका। इसका कारण है कि अशोक के बाद यह लिपि प्रयोग में लगभग बन्द हो गयी। तभी से इस लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख उस भाग से, अभी तक नहीं मिल सके हैं।

अशोक के बाद उसके पौत्र दशरथ के समय के तीन अभिलेख नागार्जुनी पहाड़ी की गुफाओं से प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख आकार में छोटे हैं। इसी प्रकार के दो अन्य अभिलेख उत्तर प्रदेश के नैपाल तराई में स्थित सोहगौरा तथा पिपरहवाँ नामक स्थानों से भी प्राप्त हुए हैं जो 'देवनांपियदशि लाजा' के सम्बन्ध में हैं किन्तु उसमें राजा का नाम अज्ञात है तथा लिपि मौर्य कालीन ब्राह्मी है। इनमें ब्राह्मी के अक्षर अशोक के अभिलेखों से भिन्न हैं। पं॰ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा इन्हें बुद्ध के निर्वाण के तुरन्त बाद का माना है। किन्तु इनके अक्षरों में तथा दशरथ के लेख के अक्षरों में बहुत कुछ समता दीखती है। इसलिये ये भी इसी काल के कहे जा सकते हैं। यह विचार 'एण्टीफ्यूटीज ऑफ दी तराई ऑव नैपाल' के लेखक पी॰ सी॰ मुखर्जी, डॉ॰ उपासक तथा डॉ॰ ठाकुर आदि का भी है। इनके अक्षर कुछ छोटे हो गये हैं तथा पहले की अपेक्षा यह अधिक गोलाको है। 'स' अब 'ष' की तरह लिखा गया है। 'ओ' की मात्रा में भी सुधार दीखता है। यहाँ अब तक दो आड़ी रेखाओं द्वारा ( ) यह लिखा जाता था वहीं अब एक ही आड़ी रेखा द्वारा लिखा जाने लगा ( )।

मौर्य काल के बाद कुषाण काल के प्रारम्भ तक

मौर्य काल के बाद भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। इस समय मगध की गुरुता उतनी नहीं बनी रही। उत्तर तथा दक्षिण में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई जिनमें कुछ विदेशी शासक भी थे। शक-क्षत्रप इसी समय पश्चिम तथा उत्तरी-पश्चिम भारत में आए जो कुछ समय तक यहाँ बने रहे। यवन बख्त्री भी यहाँ आये थे। शक-क्षत्रप शाखा दक्षिण-पश्चिम में भी फैली थी। यहीं सातवाहन वंशी शासक भी शासन करते थे। इनके तथा स्थानीय शासकों के सम्बन्ध में अनेक लेख इस समय ब्राह्मी में मिलते हैं यथा—शुंग राजाओं के अभिलेख, कलिंगाधिपति खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख आदि। चूँकि ये सभी लेख विभिन्न क्षेत्रों में खुदे हुए मिले हैं अतः इनके अक्षरों की बनावट में स्थानीय कौशल एवं चलन के अनुसार अन्तर आना स्वाभाविक था। यही अन्तर स्थानीय शैलियों के निर्माण का संकेत करते हैं जो पीछे विकसित हुईं। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि इस समय के सभी अभिलेखों की लिपि मौर्ययुगीन ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के ही अनुरूप हैं जो थोड़े बहुत अन्तर के साथ अंकित की गई हैं मुख्यतः ये अन्तर निम्न हैं—

(1) मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में 'अ' के ऊपर पड़ी लकीर लगातार प्रायः 'आ' ( ) बनाते थे। पर जब मात्रा जोड़ने में थोड़ा अन्तर हुआ तब 'आ' के लिए 'अ' के बीच में पड़ी लकीर जोड़ा जाने लगा ( )।

(2) 'इ' की मात्रा पहले कुछ गोलाकार होती थी ( ) किन्तु अब कुछ छिछलापन लिये गोलाकार दीखती है, यथा— ('खी'–भरहुत) ('खी'–मथुरा) ।

(3) अनुस्वार के लिये विशेष रूप से अक्षरों के दायें किनारे पर बिन्दु ऊपर की ओर लगाया जाने लगा— (तं), (धं) आदि।

(4) गिरनार के अभिलेख में कोणदार 'इ' का बड़ा ही स्पष्ट प्रयोग मिलता है।

(5) 'र' का प्रयोग संयुक्ताक्षर में करने के लिए कोई एक नियम का अभाव दीखता है। कभी यह बगल में लगा है (द्र) तो कभी नीचे की ओर (प्रा)।

(6) जब दो अक्षरों को संयुक्त करना होता था तो जोड़ा जाने वाला अक्षर मूल अक्षर के नीचे जोड़ा जाता था लेकिन अक्षर का अनुपात बनाये रखने के लिए मूल अक्षर की अपेक्षा संयुक्त अक्षर छोटा होता था, यथा— (भ्या), (म्ह)।

(7) अब अक्षर पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ तथा पुष्ट दिखाई पड़ते हैं।

(8) डॉ॰ ठाकुर प्रसाद के अनुसार उस समय जिस लेखनी का प्रयोग होता था उसकी कत-कटी होती थी। इससे अक्षरों की आकृति में मोटाई तथा पतलाई इच्छानुसार दीखती है। यह अधिकांश अक्षरों में उभर पड़े हैं, जैसे— (त) (द) आदि।

(9) अक्षरों के आधार चपटे होने लगे (म) (व) (ह)।

(10) एक प्रकार का त्रिकोणात्मक शीर्ष अक्षरों में दीखता है, जैसा कि ऊपर 'त' 'म' आदि से स्पष्ट है। संभवतः यही पीछे चलकर शिरोरेखा वाले शीर्ष का रूप ले लिया।

(11) अशोक के काल में अक्षर अधिक लम्बे और कम चौड़े होते थे । किन्तु अब लम्बाई और चौड़ाई समान दीखने में आती है।

(12) दीर्घ स्वरों का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा क्योंकि अब इसकी भाषा संस्कृत हो गयी। स्वर में मात्रा जोड़कर दीर्घ स्वर बनाये जाते थे। (अ), (ऐ) आदि।

(13) विसर्ग चिह्नों का प्रयोग मिलने लगा। ये चिह्न आजकल विसर्ग के लिए प्रयोग किए जाने वाले चिह्नों की तरह बनाये जाते थे।

(14) व्यंजनों में ऋ का प्रयोग मिलता है, यथा— "वृ"।

(15) नये अक्षरों का चलन मिलता है जिन्हें संयुक्तक्षरों के माध्यम से लिखा जाता था, यथा— क्ष (क + ष या ख) = या , ज्ञ (ज + ञ =) ।

डॉ॰ ठाकुर प्रसाद के अनुसार इन परिवर्तनों के लिए दो तत्त्वों को उत्तरदायी बताया जा सकता है—एक अक्षरों का सरल स्वरूप तथा दूसरा उनका अधिक प्रयोग होना।

(अ) स्थानीय विशेषताएँ

(क) गिरनार—इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ स्थानीय विशेषताएँ भी विशेष क्षेत्रों में दीखती हैं। गिरनार के अभिलेखों में सामान्य लेखों की अपेक्षा अधिक अनियमितता दिखाई पड़ती है—

(i) संयुक्ताक्षरों में नीचे वाले अक्षर का चिह्न अधिक कोणाकार बनाया जाने लगा।

(ii) संयुक्ताक्षरों में संयुक्त किये जाने वाले अक्षर सुविधानुसार कभी-कभी मूल अक्षर के पहले भी रखे जाने लगे।

(iii) 'र' का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता था।

(ख) उड़ीसा-हाथी गुंफा—खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख के अध्ययन से अक्षरों की बनावट में कुछ अन्य विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं। शुंगकालीन अभिलेखों से भी यही ज्ञात होता है—

(i) अक्षरों का निचला भाग पहले की अपेक्षा अधिक चौड़ा होने लगा। यथा—

(ग), (त), (प), (ह)

(ii) सीधी रेखा वाले अक्षरों का शिरोभाग कुछ मोटा होने लगा। पर जिनमें सीधी रेखा नहीं होती थी उनमें प्रारम्भ तथा अन्त वाले भाग ही मोटे होते थे जैसा ऊपर 'ग' और 'त' के अन्तर से स्पष्ट होता है।

(iii) 'अं' की मात्रा प्रायः अक्षर की बायीं ओर बिन्दु लगाकर व्यक्त किया था किन्तु यहाँ 'लिं' लिखने में बायीं ओर अनुस्वार लगाया गया है, यथा— ।

(iv) 'आ' की मात्रा प्रायः अक्षरों के बीच में ही लगी हुई दीखती, यथा—

(जा) (रग) आदि।

(v) खड़ी लकीरों वाले अक्षरों में खड़ी लकीरें नीचे की ओर बढ़ गयी हैं, यथा— (अ)

(ग) क्षत्रपों के अभिलेख— क्षत्रपों के अभिलेखों के अक्षरों की बनावट में भी जो लगभग इसी समय के हैं, कुछ अन्तर दीखता है। ये क्षत्रप दो क्षेत्रों में थे— उत्तर और दक्षिण में। जहाँ रंजुबल और शोडास के लेख मथुरा तथा उसके पड़ोसी क्षेत्र में मिले हैं, वहीं रुद्रदामन, नहपान आदि के सम्बन्ध के लेख दक्षिणी भारत में मिले हैं। अतः इन दोनों क्षेत्रों में अक्षरों की बनावट में कुछ स्वाभाविक अन्तर स्पष्ट रूप से दीखता है—

(i) केवल 'ल' को छोड़कर सभी अक्षरों को ऊपर की सीधी रेखाएँ एक ऊँचाई की बनने लगीं— (ल) (न) (प) (फ)।

(ii) यहाँ कलम की कत कुछ अधिक चौड़ी दीखती है। इसी से अक्षरों में मोटाई बनी हुई है।

(iii) ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि अक्षर अधिक ठिगने होने लगे थे।

(iv) 'य' की बनावट बदल गयी। नीचे का कुछ भाग कुछ अधिक चौड़ा होने लगा थी— (य)।

(v) कुछ व्यंजनों के ऊपर लकीर का प्रयोग होने लगा, यथा— (त), (च), (छ)

(vi) 'घ' की बनावट पहले की अपेक्षा अधिक कोणदार होने लगी— (घ)।

(vii) 'च' और 'द' कुछ अधिक आगे और लम्बे घसीट अक्षरों की तरह घुमावदार दिखाई देने लगे।

(viii) इन लेखों में पहली बार मध्यम 'इ' का प्रयोग हुआ।

कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि

बलापहारी कुषाण शासकों के अभिलेख भारत में मिले हैं। इनमें मुख्यतया लेख कनिष्क, हुविष्क, वासिष्क आदि के समय के हैं। ये अभिलेख प्रायः मथुरा और उसके आस-पास के क्षेत्रों से बहुतायत से प्राप्त हुए है। इनमें से कुछ तिथि युक्त भी हैं। पूर्वी राजस्थान और साँची आदि से भी इन राजाओं के कतिपय अभिलेख प्राप्त होते हैं। इस समय लिपि में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इसका कारण यह था कि अब तक अभिलेखों की भाषा प्राकृत थी। पर अब व्यापक रूप से संस्कृत का प्रयोग होने लगा। अतः कतिपय नये अक्षरों का प्रयोग होना नितान्त स्वाभाविक था। दूसरा कारण था कि कुषाण शासकों के समय तक डॉ॰ दानी के अनुसार लिपि-शास्त्र के प्रयोग के आधार पर भारत को चार प्रमुख क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है— पश्चिमोत्तर भारत— मथुरा और उसका समीपवर्ती क्षेत्र; पूर्वी भारत— कौशाम्बी, बौधगया आदि का क्षेत्र; पश्चिमी भारत— मध्य प्रदेश,

गुजरात, महाराष्ट्र का क्षेत्र तथा दक्षिणी भारत—आंध्र, तमिलनाडु का क्षेत्र। इससे अक्षरों में भिन्नता होने से सामान्य अक्षरों का नया रूप होना नितान्त स्वाभाविक था। इन तथ्यों को ध्यान में रख कर अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि कुषाण कालीन लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

(i) डॉ॰ ब्यूलर के अनुसार कुषाणकालीन अक्षर बौने और चौड़े होने लगे—

(ह), (स), (य)

(ii) ऊपर के अक्षरों के उदाहरण से स्पष्ट होगा कि इस समय कलम की कत पहले की अपेक्षा अधिक मोटी तथा पतली दोनों ही प्रकार की होती थी तभी अक्षरों की बनावट में इतना गहरा उतार-चढ़ाव दिखाई देता है।

(iii) दीर्घ स्वरों का प्रयोग इसके पहले इतना अधिक प्रचलन में नहीं मिलता था जितना इस समय क्योंकि संस्कृत में दीर्घ स्वरों का प्रयोग किया जाता है। अतएव दीर्घ स्वरों का स्थायी रूप अब बना। इसके लिए ह्रस्व में ही थोड़ा अन्तर करके उसका दीर्घ रूप बनाया जाता था यथा—

ए ऐ उ ऊ आदि। यहाँ मात्रा जोड़कर उनका दीर्घ रूप बनाया गया है।

(iv) संस्कृत में अनुस्वार और विसर्ग का प्रयोग किया जाता है उसके लिए यहाँ अक्षरों के ऊपर एक बिन्दु लगाकर अनुस्वार बना दिया जाता था (नं)। विसर्ग के लिए आधुनिक प्रणाली के अनुसार अक्षर के ऊपर और नीचे दो बिन्दु लगा कर विसर्ग बनाया जाता था। यह अभिलेख में पहली बार दिखाई पड़ता है।

(v) एक नया व्यंजन मराठी अक्षर का प्रयोग सांची आदि से प्राप्त अभिलेखों में देखने को मिलता है। साँची में इसकी लिखावट इसी प्रकार है। आज भी गंगाधर तिळक में (ड) के आस-पास कुछ उच्चारण के लिए ळ मराठी अक्षर का ही प्रयोग किया है। इसका उत्तरी भारत में अपना उच्चारण नहीं है।

(vi) 'अ' की बनावट नागरी लिपि की तरह होने लगी—

(vii) 'आ' की मात्रा पहले की अपेक्षा अब नीचे लगने लगी—

(viii) 'उ' की मात्रा कुछ बाईं ओर मुड़ी हुई बनने लगी— (थु) (भु)

(ix) 'ण' की ऊपरी लकीर अब बीच में घुमी हुई होने लगी— (ण)।

(लगता है यह दो अर्द्धवृत्त रेखाओं के योग से बना हो।)

(x) 'ऋ' का प्रयोग भी होने लगा। इसके लिए अक्षर के नीचे एक तिरछी रेखा जोड़ दी जाती थी— वृ

(xi) डॉ॰ ब्यूलर के अनुसार इन लेखों की लकीरें चौड़ी और मोटी हैं तथा किसी ऐसी लिपि का अनुकरण किया गया है जिसका स्याही से आलेख लिखी गया हो।

गुप्तकालीन अक्षरों का विकास

प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकाल एक अत्यन्त समुन्नत युग था। इस समय के इतिहास के सभी स्रोत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। प्रायः समुद्रगुप्त से लेकर सभी गुप्त राजाओं के अभिलेख भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं। इस समय तक ब्राह्मी लिपि का विविध क्षेत्रों में विकास हो चुका था, जैसा ऊपर देखा गया है। अक्षरों की बनावट के नवीन प्रयोगों में यह लिपि निरन्तर विकसित होती गई जैसे गिरनार के अभिलेख में अक्षरों के शीर्ष भाग पर लकीर का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था तथा कुषाणकाल में मौर्यकाल के गोलाकार अक्षरों की अपेक्षा कोणदार अक्षरों का निर्माण होने लगा। पारस्परिक विकास क्रम में गुप्तकालीन अक्षर एक नवीन कड़ी प्रतीत होते हैं।

इस समय अक्षरों के स्वरूप तथा मात्राओं के आकार में भी परिवर्तन दिखाई देता है। इस दृष्टि से लगता है कि गुप्तकाल में ब्राह्मी लिपि ने एक नया मोड़ ले लिया था। इसका ज्ञान अशोककालीन ब्राह्मी लिपि से इसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकता है। इस अध्ययन के द्वारा गुप्त लिपि की निम्नांकित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

(1) गुप्तकाल पूर्व ही अक्षर कोणदार बनने लगे थे, किन्तु इस समय इनका स्वरूप पूर्णतया कोणदार होने लगा यथा—

नागरी	अशोक कालीन ब्राह्मी	गुप्तकालीन ब्राह्मी
छ		
प		
फ		
श		

(2) कुछ अक्षरों की दाहिनी भुजा पहले की अपेक्षा अधिक लम्बी होने लगी थी

नागरी	अशोक कालीन ब्राह्मी	गुप्तकालीन ब्राह्मी
क		
ग		
अ		
ड		
त		
भ		

(3) विसर्ग का प्रयोग नये प्रकार के चिह्नों को लगाकर किया जाने लगा। 'क' तथा 'प' को छोड़कर शेष अक्षरों के साथ पूर्ववत् ऊपर और नीचे दो बिन्दु लगाकर विसर्ग लिखते थे। किन्तु 'क' के साथ इसके पहले × तथा 'प' के साथ इसके पहले चिह्न बनाकर किया जाने लगा। '×' चिह्न को जिह्वामूलीय तथा को उपधमानीय नामों से सम्बोधित किया जाता है।

(4) गुप्तकाल में शिला लेखों के अतिरिक्त मुद्राओं पर भी अक्षरों का अंकन बहुलता से हुआ है . किन्तु इनमें अन्तर है। शिलाओं पर अंकित इस काल के अक्षरों की अपेक्षा मुद्राओं पर अंकित अक्षर निम्न प्रकार की आकृति के हैं—

नागरी	मुद्रा के अक्षर	अभिलेख के अक्षर
य		
म		
ल		

प्रायः ये परिवर्तन गुप्त राजाओं द्वारा पूर्वी भारत से प्रचलित सिक्कों में ही पाए गए हैं। इसलिए इन अक्षरों को पूर्वी प्रकार के अक्षर कहते हैं। पश्चिमी तथा दक्षिणी भारतीय गुप्त अभिलेखों में इनका नितान्त अभाव है। फिर भी उदयगिरि की गुफाओं में उत्कीर्ण कराए गए अभिलेख में 'य' तथा 'प' की बनावट यथावत है, यथा— (य) (प)। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र से ही लेखक विभिन्न स्थानों पर भेजे जाते थे जो अपनी परिपाटी से अक्षरों को अंकित करते थे। इसी से यह परिवर्तन यहाँ दिखाई देता है। दक्षिणी भारतीय प्रभावती गुप्त के पूना प्लेट में भी इसी प्रकार के अक्षरों के होने के लिए भी यही कारण उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

(5) मात्राओं का प्रयोग एक नवीन रीति से यहाँ किया जाने लगा—

नागरी	अशोक कालीन ब्राह्मी	गुप्तकालीन ब्राह्मी
इ		
कि		
उ		
कु		
ऊ		
कू		

गुप्त शासकों के अन्तिम चरण में अक्षरों और मात्राओं दोनों के स्वरूप में परिवर्तन हो चुका था। इसका कारण लगता है कि वहाँ क्षेत्र की व्यापकता थी तथा रुचि की विविधता थी। ऊपर हमने देखा है कि अक्षरों की दाहिनी भुजा लम्बी होती थी। पर इस चरण में आते-आते यह पहले से भी अधिक लम्बी होने लगी, यथा—त– ., व- इनको देखने से स्पष्ट होता है कि दाहिने हाथ की रेखा का निचला भाग शीर्ष के रूप से और अधिक बढ़ा दिया गया। दूसरी ओर कुछ अक्षरों में विशेष विकास दिखाई देता है जिसकी अगली कड़ी कुटिल लिपि के आकार की ओर बढ़ती हुई ज्ञात होती है। ये अक्षर हैं—ष, म, भ आदि। इस समय के विष्णुगुप्त के मंगराव अभिलेख को देखने से ज्ञात होता है कि मात्राओं में भी अन्तर आ गया था, यथा—

आ इ ई ए

(य) बाक्स शीर्ष अक्षरों की विशेषताएँ

दक्षिण भारत में इसी समय वाकाटक राजा शासन करते थे। इनके विभिन्न अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनके भी अक्षरों का स्वरूप यद्यपि गुप्त काल की तरह ही है मगर इनकी शिरोरेखा गुप्त कालीन अक्षरों की शिरोरेखा से भिन्न है। यहाँ पड़ी शिरोरेखा के स्थान बक्स की तरह की आकृति बना दी गई है। इनको बाक्स हेडेड—अक्षर कहते हैं जबकि पड़ी लकीर वाले अक्षरों को जो उसी समय उत्तरी भारतीय अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं—नेल हेडेड—अक्षर कहते हैं। ये बाक्स हेडेड अक्षर लगभग सम्पूर्ण दक्षिण भारतीय वाकाटक अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं, यथा— + अशोक कालीन गुप्त कालीन वाकाटक अभिलेख। यहाँ बाक्सहेड देखकर इतना ही मात्र अनुमान होता है कि लिपि में नवीनता नहीं लाई गई उसमें सौष्ठव जोड़ने के लिए उसके सिर वाले भाग में थोड़ी कलात्मकता का समावेश कर दिया गया—

(1) इन अक्षरों के शीर्ष पर बाक्स की आकृति बना होती है यथा—

(उ) घ

(2) इस प्रकार के अक्षरों का प्रयोग दक्षिण भारत में वाकाटक राजाओं के अभिलेखों में मिलता है।

(3) ये बाक्स कभी-कभी ऊपर और नीचे दोनों ही ओर बने होते हैं यथा—

(व) न (च)

(4) अक्षर प्रायः चौकोर और खड़ी रेखाओं के योग से बने हैं—

(ख) (ए) (ह)

(5) नीचे जहाँ बाक्स नहीं बने हैं वहाँ बाक्स की आकृति बनी है—

र भ

(6) इन अक्षरों का मुँह प्रायः ऊपर की ओर खुलते हैं, किन्तु निम्न पाँच अक्षरों का मुँह नीचे की ओर खुलते हैं—

(ग) ᗩ, (ण) ゐ, (त) ट, (ई) ∾ और (श) ᓵ

(7) केवल दो अक्षर ज और ट का मुँह दाईं ओर खुला होता है—

(ज) ᕮ (ट) ᘔ

(8) अन्य जिन अक्षरों का मुँह किसी ओर नहीं खुला है, वहाँ केवल बाक्स बना है। उनमें नीचे की रेखाएँ ऊपर की ओर उठती हैं—(य) ᒧ

(9) मात्राएँ भी सीधी रेखाओं के योग से बनी हैं—

(उ) ᒧ (आ) ⌒ (ए) ⌒ (ऊ) ᒪ

इस प्रकार गुप्त लिपि के अन्तिम चरण में कुछ नवीन प्रयोग हुए। इनमें अक्षरों के ऊपर किया गया प्रयोग लिपि को एक नवीन दिशा दिया जिससे बाद में कुटिल लिपि का विकास हुआ।

(र) कुटिल लिपि

छठी शताब्दी ई॰ से लेकर नवीं, दसवीं शताब्दी तक अक्षरों के लिखने के क्रम में जो परिवर्तन आया उसे साधारणतया गुप्त कालीन अक्षरों से भिन्न पाते हैं। ये अक्षर डॉ॰ फ्लीट, डॉ॰ प्रिंसेप आदि विचारकों के अनुसार कुटिल लिपि नाम से पुकारे गए है। पर डॉ॰ ब्यूलर इस मत से सहमत नहीं हैं। इन्हीं की तरह श्री कीलहार्न महोदय ने भी कुटिल अक्षरों की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। इनका विरोध इस नामकरण से है।

फिर भी चाहे जो नाम दिया जाय 588-89 ई॰ के लगभग के उत्कीर्ण अभिलेखों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस समय अभिलेखों में अक्षरों के लिखने की परम्परा में अक्षर दाएँ की अपेक्षा बाएँ ओर झुके होते थे। इन अक्षरों में कोणाकार या कुटिलता इनके निम्न भाग में अथवा दाहिनी ओर होती थी। सीधी रेखाओं के छोर भी कुछ एक ओर को झुके होते थे तथा कुछ झुकी रेखा खींची जाती थी।

सातवीं शताब्दी के अभिलेखों के अक्षरों की आकृति विशेष कोणाकार होती थी। 'स' का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक गोलाकार होने लगा।

इसी प्रकार क्रमशः अक्षरों का स्वरूप परिवर्तित होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे,बदलते हुए ये अक्षर देवनागरी के स्वरूप में आने लगे। 11वीं तथा बारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में बने अक्षरों का स्वरूप बहुत अंशों में देवनागरी के आधुनिक अक्षरों से मिलता-जुलता है। उसी का विकसित स्वरूप पीछे चलकर देवनागरी लिपि के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

●

अध्याय 5

भारतीय अभिलेख

अभिलेखों का महत्त्व

प्राचीन भारत में कोई हेरोदोतास नहीं हुआ था जो यहाँ का व्यवस्थित इतिहास लिख छोड़ा हो। प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के लिए हमें अनेक सामग्रियाँ जुटानी पड़ती हैं। उनमें से प्रायः मूक सामग्रियाँ ही अधिक है जिनकी मूक भाषा में ही मुखर कथा सुननी पड़ती हैं। साथ ही वह भी इतनी उलझी गुत्थी है कि उसको इतिहास की कसौटी पर रखकर सुलझाना भी बहुत सरल नहीं है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजतरंगिणी जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के अभाव तथा इतिहासकार की स्पष्ट वाणी की कमी ने हमारा इतिहास ही अन्धकार में रख छोड़ा हो। फिर भी हमारे पास इतने साधन हैं कि उसको जोड़कर हमारा सारा का सारा का पुराना इतिहास बड़ी सरलता एवं वैज्ञानिकता से तैयार किया जा सकता है। इसके मूल स्रोतों में एक पठनीय स्रोत है अभिलेख जो भारत भूमि में बिखरे पड़े हैं। आवश्यकता है इनके पढ़ने और समझने की। इनके द्वारा हमारा अतीत पुनः अपने वास्तविक रूप में जीवित हो उठता है तथा सत्य की अनवरत धारा में अपने ही इतिहास सुनाने लगता है। ये अभिलेख भले ही राजाश्रित या व्यक्तिगत छाया में खुदे हों पर इनमें ऐसी ऐतिहासिक सामग्रियाँ संजोई गई है जो समकालीन हैं, सत्य हैं तथा विश्वसनीय हैं।

कुछ तो हमारे इतिहास में ऐसे शासक और राजवंश हुए हैं जिनका ज्ञान भी हमको न होता यदि उसका अभिलेख न प्राप्त होता और यदि उनका ज्ञान होता भी अन्य स्रोतों से तो बड़े ही सांकेकित रूप में। इस प्रकार का एक उदाहरण हम ले सकते हैं, चेदिवंशीय शासक खारवेल का। यदि हाथी-गुम्फा अभिलेख उपलब्ध न हुआ होता तो खारवेल इतिहास के लिए एक अज्ञात शासक मात्र ही बना रहता। दूसरे समुन्द्रगुप्त नामक गुप्त वंशी शासक की महती विजय से हम अनभिज्ञ रह जाते यदि हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति उपलब्ध न हुई होती। इसी प्रकार अशोक जैसे महान शासक की बहुमुखी कृतियों के अध्ययन का एकमात्र व्यवस्थित स्रोत है उसके अभिलेख। दूसरी ओर मौखीर, उत्तरगुप्त, राष्ट्रकूट, चोल आदि राजवंशों का इतिहास हमारे लिए अंधकार की गर्त में ही पड़ा रहता यदि इनके अभिलेख प्राप्त न हुए होते। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे इतिहास के पृष्ठों में विखरे पड़े हैं।

इनके द्वारा तिथि क्रम की उलझी हुई गुत्थी सुलझाने में सबसे अधिक सहायता मिली है। शक तथा सातवाहन वंश का उत्तराधिकार क्रम अभिलेख के माध्यम से ही निर्धारित होता है। उत्तरगुप्त राजाओं के सम्बन्ध में अन्य स्रोतों के अभाव में अभिलेख ही हमारे सहायक हैं जिनके माध्यम से उनका उत्तराधिकार क्रम निश्चित होता है। यदि हम व्यवस्थित रूप से इनका अध्ययन करें तो देखेंगे कि जैसे-जैसे अभिलेख प्राप्त होते गये उस उलझी हुई गुत्थी को क्रमशः सुलझाने में सहायता मिलती गयी। आज भी जो इनका उत्तराधिकार क्रम निर्धारित हो सका है वह अन्तिम है ऐसा नहीं कहा जा सकता। नवीन अभिलेखों की प्राप्ति इस पर पुनः नया प्रकाश डालने में समर्थ हो सकती है यही विश्वास है।

अभिलेखों द्वारा व्यक्तिगत चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें प्रसंगवत लेखक अपने शासक की कृतियों की चर्चा करते हुए उसके चरित्र का भी वर्णन करते पाये गये हैं। कई अभिलेखों का तो इस दृष्टि से एकांतिक महत्त्व है क्योंकि अन्य किसी भी स्रोत से इस पक्ष पर प्रकाश ही नहीं पड़ता। यदि ये अभिलेख न लिखे गये होते तो इतिहास उस राजा के चरित्र से पूर्णतया वंचित ही रह जाता। इस दृष्टि से हम हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति को ले सकते हैं। समुद्रगुप्त के जानने का यही अभिलेख एकमात्र साधन है। इसमें समुद्रगुप्त के गुणों की चर्चा की गई है कि वह विद्या में कविकुल गुरु था, शास्त्र तत्वार्थ भर्तुः था, संगीत में गुरु, नारद और तम्बरु के समान था तथा युद्ध में यम और कुबेर की तरह था। इसी प्रकार मेहरौली के 'चन्द्र' अभिलेख तथा पुलकेशिन द्वितीय के अयहोल अभिलेख से भी क्रमशः चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा चालुक्य-वंशीय शासक पुलकेशिन द्वितीय का ज्ञान प्राप्त होता है।

राजनीतिक स्थिति के ज्ञान में अभिलेखों का बड़ा अधिक महत्त्व है। कुषाणकाल के बाद तथा गुप्तकाल के प्रारम्भ को भारतीय इतिहास का अन्धकार युग कभी कहा जाता था। उस समय की राजनीतिक स्थिति का अत्यन्त व्यवस्थित ज्ञान आधुनिक अन्वेषणों के बावजूद भी नहीं प्राप्त हो सका है, जब तक कि हम समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का अध्ययन करके उस समय का व्यवस्थित विवरण नहीं प्राप्त करते। इसी प्रकार किसी भी दूसरे स्रोत के अभाव में शक तथा सातवाहन राजाओं के अभिलेखों से उनके समय के दक्षिणी भारत का राजनीतिक ज्ञान प्राप्त होता है। खारवेल के हाथी-गुम्फा अभिलेख से भी उस समय की राजनीतिक स्थिति जानी जा सकती है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक अभिलेख इस दिशा में हमारे ज्ञान में सहायक हैं।

सामाजिक अवस्था का ज्ञान देने में भी अभिलेखों का महत्त्व बहुत अधिक है। अशोक के अभिलेख इस बात के साक्षी है कि उस समय सामूहिक परिवार प्रणाली थी। धनी लोग बहुत-सी पत्नियाँ रखते थे तभी 'अन्तःपुर' शब्द का प्रयोग उनमें किया गया है। इसी प्रकार पाल राजाओं के समय के उत्कीर्ण कराये गये दामोदरपुर ताम्रपत्रों से शिक्षा के सम्बन्ध में परिचय मिलता है। अन्तरजातीय विवाह का ज्ञान शक-सातवाहन अभिलेखों से प्राप्त होता है।

आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में भी इनके द्वारा बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ राजवंशों के अभिलेख तो इस दृष्टि से अत्यन्त लाभकर सिद्ध हुए हैं क्योंकि दूसरे किसी भी साधन के अभाव में अभिलेखों से ही एक काल विशेष तथा क्षेत्र विशेष का अर्थिक अध्ययन किया जा सका है। उदाहरणार्थ शक-सातवाहन अभिलेखों के द्वारा ही उस समय के दक्षिणी भारत की आर्थिक स्थिति का ज्ञान मिलता है। गुप्त अभिलेख भी इस दृष्टि से महत्त्व के सिद्ध हुए हैं।

धार्मिक अवस्था के सम्बन्ध में भी अभिलेख बहुत अंश तक हमारे जानकारी के साधन हैं। अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण, श्रमण, आजीवक आदि धार्मिक सम्प्रदायों का चलन था। यह भी ज्ञात होता है कि अशोक ने एक ऐसे राष्ट्र-धर्म का प्रचलन किया था जिसमें सभी धर्मों की प्रमुख बातें सम्मिलित थी जबकि व्यक्तिगत जीवन में वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार गुप्त शासकों के अभिलेखों से जहाँ स्कन्दगुप्त तक के गुप्त शासकों का वैष्णव धर्मानुयायी होना ज्ञात होता है। वहीं उसके बाद के शासकों की रुचि बौद्ध धर्म की ओर हो चली थी सिद्ध होता है। हर्ष के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्मानुयायी था। पाल राजाओं के अभिलेख बज्रयान बौद्ध सम्प्रदाय के आगमन का परिचय देते हैं तथा उनके बौद्ध धर्मानुयायी होने के सूचक हैं।

साम्राज्य विस्तार के निर्धारण में भी अभिलेखों का बड़ा हाथ है। इस दिशा में अभिलेख दो दृष्टियों से हमारे सहायक हैं—एक प्राप्ति स्थान के द्वारा, दूसरे वर्णित अधिकृत प्रदेश के द्वारा। अशोक के साम्राज्य का विस्तार का व्यवस्थित ज्ञान उसके अभिलेखों के प्राप्त स्थान से ही होता है। जहाँ उसके शिलालेख उसकी सीमा व्यक्त करते हैं वहीं उसके स्तम्भ लेख उनके बीच में उसके साम्राज्य की स्थिति को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम का साम्राज्य विस्तार केवल उसके अभिलेखों के प्राप्ति स्थान से ही जाना जाता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य के सम्बन्ध में उसके द्वारा विजित स्थानों का ज्ञान मेहरौली लौह स्तम्भ लेख के विवरण से प्राप्त होता है। अशोक के अभिलेखों में प्रत्यन्त राज्यों का उल्लेख है जो इसके साम्राज्य की वास्तविक सीमा निर्धारित करते हैं। उसने अपने अभिलेख में अपने प्रशासनिक केन्द्रों का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि वे स्थान उसके साम्राज्य में थे तथा वहाँ के पड़ोस पर भी उसका आधिपत्य था।

अभिलेखों के अध्ययन से तत्कालीन लिपि भाषा एवं साहित्य का भी परिचय मिलता है। अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके समय अशोक-कालीन ब्राह्मी का चलन सम्पूर्ण भारत में था और पश्चिमी सीमा पर खरोष्ठी का। गुप्त शासकों के अभिलेख गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के चलन का ज्ञान देते हैं। भाषा के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि अशोक के अभिलेख पालि एवं प्राकृत भाषा में हैं। पर उसके बाद शुंग कालीन अभिलेखों के समय से संस्कृत का प्रयोग चलन में आ चला था। गुप्तोत्तर उत्तरी भारत के अभिलेख साहित्यिक संस्कृत के परिचायक हैं।

साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त ज्ञान को पुष्ट करने के लिए अभिलेख अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। इस सम्बन्ध में गुप्तकालीन शासक रामगुप्त का प्रमाण सर्वाधिक स्पष्ट है। इस शासक के सम्बन्ध में अभी हाल तक जो भी ज्ञान प्राप्त था वह साहित्यिक स्रोतों पर आधारित था। किन्तु अभी मध्य प्रदेश में प्राप्त तीन जैन की मूर्तियों के पदाधारों पर अंकित महाराजाधिराज श्री रामगुप्त का उल्लेख उसके महाराजा होने की सूचना प्रदान करते हैं। इसी प्रकार पातंजलि का महाभाष्य में यह कहना कि 'वयं यज्ञमानः' की पुष्टि धनदेव के अयोध्या चौखट अभिलेख से होता है कि वह दो अश्वमेघ यज्ञों का कराने वाला था।

विदेशियों के भारतीयकरण का भी ज्ञान पुरालेखों से प्राप्त होता है। बेसनगर के गरुड़-ध्वज अभिलेख से विदित है कि यवन शासक एण्टीअलकाइडस का राजदूत हेल्योडोरस था जो भागवत धर्म का अनुयायी बन गया था। इसी प्रकार तक्षशिला के मिलिन्द के रजत पत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह यवन शासक बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उषवदात्त संस्कृत शब्द का शुद्ध भारतीय नाम प्रतीत होता है। यह शक-क्षत्रप नहपान का दामाद था। इससे लगता है शकों का भारतीयकरण होना प्रारम्भ हो गया था। इसी प्रकार विमकदफिसिज नामक कुषाण शासक अभिलेखों के आधार पर शैवानुयायी प्रतीत होता है।

शासन व्यवस्था का भी ज्ञान अभिलेखों से होता है। अशोक के अभिलेखों से उसके अधिकारियों तथा उनके अधिकारों की चर्चा प्राप्त होती है। धर्म महामात्र, युत, राजुक आदि अधिकारियों का वर्णन वहाँ किया गया है। इन्हीं से कर के सिद्धान्त, शासन की नीति आदि का भी ज्ञान मिलता है। दक्षिणी भारतीय अभिलेखों में मंत्रिपरिषद का संगठन, मन्त्री, कर के सिद्धान्तों की चर्चा आदि प्राप्त होती है। कर के प्रकारों का भी उल्लेख इनसे ज्ञात होता है। अशोक के अभिलेख उसके जनकल्याणकारी राज्य की स्थापना, युद्ध नीति आदि को भी स्पष्ट करते हैं।

वृहत्तर भारत का ज्ञान देने में भी अभिलेखों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। वृहत्तर भारत की नींव तो अशोक के समय से ही हम देखते हैं। अशोक के समय में उसके पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघ मित्रा को लंका भेजा गया था जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसी प्रकार अनेक भिक्षु भारत के बाहर मध्य एशिया; चीन आदि देशों मे गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस प्रकरण के अभिलेख भारत तथा विदेशों में भी मिलते हैं।

इस प्रकार अभिलेख हमारे इतिहास के अध्ययन के अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इनके द्वारा हमारे प्राचीन इतिहास की लगभग सम्पूर्ण विद्याओं पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है क्योंकि ये प्रत्यक्ष साक्ष्य है। इसमें मिलावट की सम्भावना नहीं की जा सकती।

अभिलेखों की आधार सामग्रियाँ

प्राचीन भारत में लेखन कला के विकास के साथ सामग्रियों की विविधता का भी ज्ञान प्राप्त होता है। ताड़पत्रों से लेकर धातु और पुनः कागज तक का प्रयोग लेखन सामग्री के रूप में यहाँ किया गया है। इस वैविध्य के दो कारण थे—एक जिस क्षेत्र में लिखा जा रहा है वहाँ लेखन सामग्रियों की उपलिब्ध तथा दूसरे जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसकी प्रकृति। इसको और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि अभिलेख लेखन के लिए जिस क्षेत्र में पत्थर उपलब्ध होता था वहाँ लेखन में भरसक पत्थर का ही प्रयोग किया जाता था। जहाँ नहीं उपलब्ध था वहाँ मिट्टी पर लिखते थे। दक्षिण भारत में ताड़पत्र सरलता से मिल जाते थे। अतः वहाँ ताड़पत्र का ही प्रयोग करते थे। दूसरे यह भी ध्यान रखा जाता था कि जो कुछ लिखा जा रहा है उसका तुलनात्मक महत्त्व कितना है। इस आधार पर भी सामग्री का चयन किया जाता था। यदि कोई सामग्री किसी को दान दी जाती थी और उसको उसके साथ लिखित पत्रक देना होता था तो वह किसी स्थायी चीज पर ही दी जाती थी जो उसके पास रहे और सरलता से अवसर पर कहीं ले जाया जा सके। इससे ताम्रपत्रों के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। कुछ ऐसी घोषणाएँ होती थीं जो किसी स्थान विशेष पर जनसाधारण के सूचनार्थ लगानी होती थी तो उसको पत्थर पर खुदवाया जाता था जिससे उसका स्थायी स्वरूप बना रहे। इसके ठीक विपरीत पुस्तकें आदि ताड़पत्र, भुर्जपत्र आदि कोमल और हल्की सामग्रियों पर लिखी जाती थीं। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर सामग्रियों की विविधता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कागज, रुई का कपड़ा, लकड़ी के पट्टे, रेशमी कपड़ा, चमड़ा आदि लेखन के लिए प्रयोग किया जाता था। किन्तु इन सभी सामग्रियों पर प्रायः पुस्तकें ही लिखी जाती थीं। यह भी स्पष्ट है कि ये सारी सामग्रियाँ बहुत बाद की उपलब्धि नहीं है क्योंकि चौथी शताब्दी ई॰ पूर्व में सिकन्दर के साथ आए यूनानी इतिहासकार कर्टियस यह विवरण देता है कि भारत में कागज का प्रयोग किया जाता था। किन्तु हमारा सन्दर्भ जहाँ तक अभिलेखों से है उनकी लेखन सामग्रियों को हम निम्नलिखित खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—

लेखन सामग्री
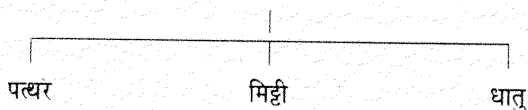
पत्थर

इसका प्रयोग अभिलेखों में बहुतायत से किया गया है। मौर्य काल के पूर्व से लेकर बारहवीं शताब्दी तक अभिलेखों के लिए अनेक रूपों में पाषाण का प्रयोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाया जाता है। इसके प्रयोग का कारण यह था कि 'चिलथितिका च होततीत' (अशोक का स्तम्भ लेख 2)—अर्थात् स्थायित्व इसमें विद्यमान होता था। इसीलिए जहाँ अन्य सामग्रियाँ प्राकृतिक व्यवधानों से विनष्ट हो गयीं तथा धातुएँ गाड़ दी गयीं वहाँ प्रस्तर अभिलेख अपने मूल रूप में प्राप्त हैं। दूसरा, कारण यह रहा होगा कि पत्थर पर उत्कीर्ण कराने में धातु की अपेक्षा बहुत कम खर्च पड़ता होगा। तीसरी, सुविधा यह भी रही होगी कि बड़े-बड़े अक्षरों में लम्बा लेख आसानी से इस पर खोद दिया जाता होगा जो पढ़ने की दृष्टि से सुविधाजनक रहा होगा। मिट्टी और धातु में इस सुविधा की सर्वथा कमी ही दीखती है।

विभिन्न प्रकार के प्रस्तर लेख अशोक के समय से ही मिलते हैं। मुख्य रूप से प्रस्तर लेखों के प्रकार हैं—शिलालेख, स्तम्भ लेख, चट्टान लेख, मूर्तियों का आधार या पृष्ठ लेख, पात्र के किनारे का लेख, दीवार लेख, नींव लेख, गुहा लेख आदि। यहाँ यह शंका समीचीन है कि पत्थर का पर्यायवाची शब्द है शिला। चूँकि सभी लेख पत्थर पर ही खुदे हैं अतः इन्हें शिलालेख की संज्ञा से संबोधित किया जाय। किन्तु ऐसा कहने में कठिनाई है। शिलालेख एक प्रकार के ऐसे लेख हैं जो प्रायः शिलाओं अथवा जीवित चट्टानों पर काटकर लिखे जाते हैं। जब पत्थरों को काटकर कोई दूसरा रूप दे दिया जाता है तो उसे उस नामविशेष से ही सम्बोधित कर दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

शिलालेख के लिए पत्थर के टुकड़ों को काटकर लेख लिख दिये जाते थे जैसा प्रायः अशोक के शिलालेखों में दीखता है। कभी ऐसा भी करते थे बीच के भाग को छेनी से चिकना बनाकर उसे घोंटकर समतल तथा चमकीला बनाया जाता था और भी सुन्दर बनाने के लिए इसके कोरों को छीलकर उभारदार गोल किनारी बना दी जाती थी। फिर बीच में सीधी रेखा खींचकर उसपर किसी सुन्दर लेखक से स्याही या खड़िया से लेख लिखवाया जाता होगा जो पीछे संगतराश की छेनी तथा हथौडे से काटकर निकाला जाता होगा। हाशिया छोड़ने का भी चलन था। चारों ओर इस प्रकार थोड़ी जगह छोड़ दी जाती थी। ऐसी भी सावधानी किन्हीं अभिलेखों में देखने को मिलती है कि उत्कीर्ण करते समय अगर कहीं गहरा कटाव हो जाता था तो आधार को समतल बनाने के लिए उसमें धातु पिरो देते थे। शिला के आकार की दृष्टि से कभी उसपर एक लेख तथा एक पर कभी-कभी कई लेख भी उत्कीर्ण कराया जाता था, जैसे—अशोक के लघु शिलालेखों में एक लेख मिलता है जबकि चतुर्दश शिलालेखों में एक ही पर चौदह लेख उत्कीर्ण कराये गये थे। पर ऐसा भी होता था कि लम्बा होने पर कई पटियों का प्रयोग साथ-साथ किया जाता था, जैसे—राजा कुम्भा का एक लेख पाँच पटियों पर उत्कीर्ण है।

अशोक ने स्वयं अपने शिलालेखों में 'शिलाठम्भानि', 'शिलाफलकानि', शब्दों का प्रयोग किया है जो क्रमशः स्तम्भ लेख और फलक लेख की ओर इंगित करते हैं। स्तम्भों का इतिहास अत्यन्त पुरातन है। वैदिक काल में यज्ञों के समय 'यूप' की स्थापना की जाती थी। इसलिए अशोक के स्तम्भों के पास कहीं-कहीं अनगढ़ स्तम्भ आज भी खड़े हैं। कभी-कभी विशिष्ट अवसरों पर स्तम्भों पर लेख भी खुदवाया जाता था। पाल-काल की बनी अधिकांश मूर्तियों के आधार पर तथा कुछ गुप्तकालीन

मूर्तियों के आधार पर भी लेख पाये जाते हैं। इसी प्रकार पटना तथा पार्स्खम से प्राप्त यक्षों की पीठ पर भी लेख उत्कीर्ण किया गया है। अनेक गुफाओं में लेख खुदे हुए पाये जाते हैं जिन्हें गुहा लेख कहते हैं जैसे खारवेल का हाथी-गुम्फा अभिलेख।

मिट्टी

प्राचीन भारतीय पुरातत्वविद् कनिंघम, फूरर आदि ने उत्खनन तथा सर्वेक्षण में बहुत-सी मिट्टी की बनी ऐसी सामग्रियाँ प्राप्त की हैं जिनपर कुछ लेख उत्कीर्ण हैं। मथुरा से मिट्टी की सामग्रियों पर अंकित लेख बहुतायत से मिले हैं। प्रायः बर्तनों के ऊपर लेख उत्कीर्ण करने का चलन था। कहीं-कहीं मिट्टी की बनी मूर्तियों पर भी लेख खुदा हुआ है। ऐसी मूर्तियाँ प्रायः सजावट के लिए प्रयोग की जाती थीं। इन्हें घरों के ताखों पर रखा जाता था। इनके पदाधार पर ही विशेषतया खुदे लेख प्राप्त हुए हैं। मिट्टी की ईंटों पर यज्ञों के वृत्त उत्त्कीर्ण किये हुए पाये गये हैं। ये ईंट प्रायः धार्मिक स्थानों तथा यज्ञ के स्थानों पर लगाये जाते थे। कुछ चिट्ठियाँ तथा धार्मिक उद्धरण भी मिट्टी के टुकड़ों पर खुदे हुए मिले हैं। उत्तर प्रदेश में एक मिट्टी के टुकड़े पर बौद्ध सूत्र अंकित किया हुआ मिला है। उत्तर प्रदेश के राजघाट तथा भीटा नामक स्थानों से बहुत-सी मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई हैं। ये मुहरें कुछ तो राजाओं की हैं और कुछ संस्थाओं की। कतिपय मुहरें श्रेणियों की भी मिली हैं। इनमें राजचिह्न तथा राजा का नाम अंकित हैं। संस्थाओं की मुहरों में व्यक्ति तथा संस्था का नाम अंकित होता था। श्रेणियों की मुद्राओं में श्रेणी की मुहर तथा श्रेष्ठी का नाम पाया जाना है। कभी-कभी धार्मिक संस्थाओं की भी मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार मिट्टी पर लेख लिखने का विधान रहा होगा कि गीली मिट्टी को आकार प्रदान कर उस पर किसी नुकीली चीज से लिख देते होंग और तब पकाते होंगे।

धातु

धातु का प्रयोग साधारण लोगों तथा सामान्य कार्यों के लिये सम्भव नहीं था। प्रायः बहुमूल्य धातुएँ राज्य परिवार द्वारा प्रयोग की जाती थी। साथ ही उन पर केवल स्मरण सम्बन्धी अथवा प्रमाण सम्बन्धी छोटे लेख ही उत्कीर्ण किये जाते थे क्योंकि उन्हें सुरक्षित रखना होता था। यदि बड़े लेख जन सामान्य के प्रयोग के लिये उत्कीर्ण करने होते थे तो उन्हें साधारण धातुओं पर उत्कीर्ण कराया जाता था जैसे लोहा आदि। बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग गौरव प्रदर्शित करने के लिए किया जाता होगा। साथ ही अभिलेखों को स्थायी रखने के लिए भी धातुओं का प्रयोग किया जाता होगा। सोना, चाँदी, तांबा, पीतल, काँसा, लोहा तथा टीन आदि का प्रयोग सामान्यतया अभिलेखीय सामग्री के रूप में किया जाता था।

सोना अत्यन्त बहुमूल्य एवं महँगा होने के कारण बहुत ही कम इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता था। जातकों में सोने पर लिखे हुए लेखों का उल्लेख मिलता है। राज परिवारों का विवरण तथा राजाज्ञाएँ जो राजकीय परिवारों से सम्बन्धित होती थीं। इन पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। रुरुजातक में ऐसा विवरण मिलता है। वर्नेल के विचार में राजकीय-पत्र तथा दान-पत्रों के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। जिस प्रयोजन के लिये सोने का उपयोग अभिलेख में किया जाता था उसी प्रयोजन के लिये चाँदी का भी प्रयोग यहाँ किया जाता था। भट्टिप्रोल स्तूप से चाँदी की सामग्रियों पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं। तक्षशिला से भी चाँदी की एक लपेटी हुई पट्ट पर उत्कीर्ण लेख मिला

है। इसी प्रकार जैन मन्दिरों में रजत पत्रों पर तान्त्रिक चिह्नों को उत्कीर्ण किया गया है। पीतल का प्रयोग अभिलेख उत्कीर्ण करने के लिए बहुत ही कम पाया गया है। कुछ पीतल की जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके पदाधार पर अत्यन्त छोटे लेख उत्कीर्ण किये गये हैं। काँसे की सामग्रियों पर भी अत्यन्त छोटे लेख उत्कीर्ण मिलते हैं प्रायः ऐसे लेख पीतल की तरह ही काँसे की मूर्तियों के पदाधार पर भी अंकित किये गये हैं तथा मन्दिर के घंटों पर भी खुदे हैं। विशेषतः दाता का नाम तथा संवत् उस पर उत्कीर्ण है। इसी प्रकार लोहे का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु इस धातुओं का प्रयोग अभिलेखीय प्रयोजन के लिए अत्यन्त अल्प हुआ है। इस प्रकार का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख हमें दिल्ली के मेहरौली नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यह एक लोहे का खम्भा है जिस पर तीन श्लोकों में एक मरे हुए राजा चन्द्र की कृति का उल्लेख किया गया है। टीन तथा शीशे का प्रयोग भी इस उद्देश्य से देखने को मिलता है। पर इनका प्रयोग अत्यन्त नगण्य है। ब्रिटिश संग्रहालय में एक बौद्ध पाण्डु लिपि टीन पर अंकित रखी गई है। शीशे का प्रयोग सातवाहन राजाओं ने इस संदर्भ में किया है। इन पर छोटे लेख उत्कीर्ण हैं।

पर इन सभी धातुओं की अपेक्षा तांबे का प्रयोग लेख उत्कीर्ण कराने के प्रयोजन ने प्राचीन भारत में सबसे अधिक किया गया है। बिहार तथा बंगाल से ताम्रपत्र बहुतायत की संख्या में प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत से भी ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण अभिलेख मिले हैं। इनका प्रचलन मौर्य काल से ही हम देखते हैं। सोहगौरा से मौर्यकालीन ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुआ है और तब से बारहवीं शताब्दी तक ताम्रपत्रों का प्रचलन रहा। कनिष्क के समय चौथी बौद्ध संगीत के निष्कर्ष ताम्र पत्रों पर ही उत्कीर्ण करके कश्मीर के कुण्डलवन में कहीं गाड़ दी गयी हैं जो आज तक उत्खन्नकर्ताओं के प्रयास से भी निकल नहीं सकी हैं। अवनतिकालीन गुप्त राजाओं के तथा पाल राजाओं के समय में विशेष रूप से ताम्र पर अंकित अभिलेख प्राप्त हुए हैं। दक्षिण भारत में भी ताम्रपत्रों का प्रचलन था। ये अभिलेख कुछ तो पाषाण पर अंकित किये गये अभिलेखों की तरह विवरण देते हैं और कुछ भूमिदान का विवरण मात्र प्रस्तुत करते हैं। प्रायः अग्रहारा दान में भूमि दी जाती होगी उसे प्रमाणस्वरूप ताम्रपत्र प्रदान किया जाता होगा क्योंकि एक तो यह हल्का होता है दूसरे अन्य बहुमूल्य धातुओं की तरह महँगा नहीं होता है तथा इसके पत्र सरलतापूर्वक रखे जा सकते हैं। कभी-कभी तो ताम्रपत्रों पर ग्रन्थ भी लिखा जाता था। आज भी ताम्रपत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ तिरुपति में सुरक्षित है। फाहियान ने बहुत से बिहारों के दान के संबंध में ताम्रपत्रों को देखा था। इनको तैयार करने के लिये हथौड़े से ताँबे के टुकड़ों को पीटकर इच्छित आकार का बना लेते थे। ये आवश्यकतानुसार हल्के तथा भारी दोनों ही प्रकारों के होते थे। इनको तैयार कर लेने के बाद इनके किनारे प्रायः ऊँचे उठा दिए जाते थे जिससे दूसरे पत्रों से रगड़ खाकर वे घिस न जायें। किनारे पर थोड़ी जगह छोड़कर सीधी रेखा में सम्भवतः स्याही से या खड़िया मिट्टी से कुछ लेख लिख दिया जाता होगा और तब उसको उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्ण कराया जाता होगा। कभी-कभी लेखक की असावधानी के कारण लेख की त्रुटियाँ ज्यों-कि-त्यों वहाँ दीखती हैं। पर कुछ ताम्रपत्रों पर अंकित अभिलेख पर लेखक की त्रुटियों को सुधारने का प्रयास किया गया है। यदि कोई अक्षर अशुद्ध होता था तो उसे काटकर शुद्ध बनाया जाता था और यदि कहीं कोई शब्द या अक्षर छूट जाता था तो वहाँ चिह्नित करके ऊपर या हाशिए पर उसे लिख दिया जाता था।

अभिलेखों के विभाजन के आधार

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि अभिलेखों का विभाजन या वर्गीकरण हम किस आधार पर करें। इस सन्दर्भ में हम उत्कीर्ण आधार सामग्रियों को स्वीकार कर सकते हैं, जैसे—शिलापट्ट पर खुदें हुए लेख-शिलालेख, ताम्रपत्र पर खोदे जाने वाले लेख-ताम्रलेख, स्तम्भ पर खोदे गये लेख-स्तम्भ लेख, मूर्तियों के पदाधार पर खोदे हुए लेख-मूर्तिलेख आदि। पर यदि इस दृष्टि से हम आधार को स्वीकार करके लेखन सामग्रियों की गणना करने लगें तो अनेक सामग्रियों पर अंकित लेख हमको प्राप्त होंगे जिनकी चर्चा हम 'अभिलेख की सामग्रियों' के अन्तर्गत कर चुके हैं। उनमें भी वे सामग्रियाँ कभी गौण हो जाती हैं और कभी प्रमुख होती है। किन्तु वह सामग्री जिसपर लेख खुदा होता है, जैसे—पत्थर की मूर्ति पर खुदा हुआ लेख—यहाँ पत्थर महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु महत्त्वपूर्ण है मूर्ति। अतः इसे हम यदि पत्थर की मूर्ति पर खुदे अभिलेख के नाम से वर्गीकृत करें तो फिर सोना, चाँदी, काँसा, ताँबा आदि अनेक धातुओं की मूर्तियों पर खुदे हुए अभिलेखों को भी अलग-अलग कोटि में रखना पड़ेगा। यह वर्गीकरण दो दृष्टियों से दोषपूर्ण है—एक कि इसके विभाजन में कोई वैज्ञानिकता नहीं है तथा दूसरे इसमें विविधता इतना अधिक हो जायगी कि वर्गीकरण का महत्त्व ही समाप्त हो जायगा। यही बात एक और उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। यदि कोई लेख स्तूप के शिलापट्ट पर खोदा गया है और हम कहें कि अमुक स्तूप के विशालपट्ट पर खुदा लेख है तो यह कोई वर्गीकरण नहीं हुआ और न इस वर्गीकरण में एक निश्चितता ही है। यदि हम इसे केवल स्तूप लेख ही कहें तो वर्गीकरण का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होगा।

पर यहाँ सन्देह यह होगा कि जब सामग्रियों के आधार पर अभिलेखों के वर्गीकरण की विधि अवैज्ञानिक है तो फिर अशोक के अभिलेखों की आधार-सामग्रियों के ऊपर कैसे विभाजित कर उनका नामकरण चतुदर्श शिलालेख, सप्त स्तम्भ लेख, लघु शिलालेख, लघु स्तम्भ लेख, गुहा लेख आदि किया गया है ? इस सन्दर्भ में यह बात विचारणीय है कि अशोक के अभिलेखों को हम धार्मिक लिपि की कोटि में रख सकते हैं। अशोक ने स्वयं उसे—धम्म लिपि कहा है क्योंकि उसके सभी अभिलेखों में मूलतः धम्म की ही चर्चा की गयी है। चूँकि उसकी धम्म लिपियाँ विभिन्न आधार-सामग्रियों पर अंकित की गयी हैं अतः उन्हें स्पष्ट रूप से विलग करने के लिए उसका नामकरण आधार सामग्री पर किया गया है। दूसरी ओर यह भी विचार करना चाहिए कि वर्गीकरण का आधार चाहे जो भी हम स्वीकार करें पर जब तक हम आधार सामग्री का नाम साथ-साथ नहीं जोड़ेंगे तब तक स्पष्टता नहीं प्राप्त हो सकती और वह भी जब हम किसी एक राजा के समय के अभिलेखों का वर्गीकरण कर रहे हों तब विशेष रूप से ऐसा करना आवश्यक होगा।

तो फिर दूसरा आधार बनाया जा सकता है अभिलेखों का प्रतिपाद्य विषय। जिन अभिलेखों का प्रतिपाद्य विषय एक प्रकार का हो उनको एक श्रेणी या कोटि में रखकर विषय के आधार पर उनका विभाजन किया जा सकता है। आगे हम देखेंगे कि अभिलेखों में कुछ तो राजाज्ञाएँ हैं; कुछ में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की चर्चा की गयी है तथा उसके सम्बन्ध में विधान का उल्लेख किया गया है। कतिपय अभिलेखों में राजाओं के कर्मचारियों द्वारा अपने स्वामी की प्रशस्ति गायी गयी है जिसके माध्यम से उनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी होती है। कभी-कभी राजा या महाजन लोग किसी धार्मिक कृत्य के समय अथवा अपनी किसी इच्छित वस्तु की पूर्ति पर अथवा स्वेच्छा से किसी मन्दिर, किसी ब्राह्मण आदि को दान देते थे। यह दान जिस किसी भी चीज

का हो उसको दाता अभिलेखों में अंकित करा देता था जिससे उसकी कीर्ति स्थायी रहे। इस प्रकार एक नहीं, अनेक विषय के विविध लेख प्राचीन काल में अंकित किये गये थे। इनके तथ्यों के आधार पर हम लेखों का वर्गीकरण कर सकते हैं।

यह वर्गीकरण आधार सामग्री के वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक व्यापक और पुष्ट है। इसके द्वारा एक प्रकार के तथ्य वाले अभिलेखों को एक कोटि में रखा जा सकता है। यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसके द्वारा वर्ग के नाम लेने मात्र से ही तथ्य का सामान्य परिचय प्राप्त हो जायगा। पर यदि आधार सामग्री के सहारे इनका विभाजन किया जाय तो केवल आधार मात्र का ज्ञान वर्गीकरण से होगा, तथ्य का परिचय नहीं मिल सकता जब कि अभिलेखों में महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका वर्ण्य विषय ही होता है। उदाहरणार्थ, यदि हम कहें कि अमुक अभिलेख शिला लेख है या स्तम्भ लेख है तो इसमें कई कठिनाई श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित हो जायगी। एक तो उनको इतना जान लेने मात्र से ही स्पष्ट नहीं होगा कि यह अभिलेख किस सन्दर्भ का है। दूसरे, इस वर्गीकरण में एकरूपता स्थापित करना भी एक समस्या है, जैसे—लघु स्तम्भ लेख, सप्त स्तम्भ लेख, अलग स्तम्भ लेख आदि। तीसरे, ऐसे विभाजन में भ्रम बना रहता है कि वास्तव में इस वर्ग के नाम का महत्त्व क्या है ? जैसे—सप्त स्तम्भ लेख कहने मात्र से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि सात खम्भों पर अंकित लेख। जब तक कि पाठक इस बात से परिचित न रहे कि एक ही खम्भे पर सातों लेख खुदे हुए हैं।

अतः उचित यही है कि अभिलेखों का वर्गीकरण उनकी प्रतिपाद्य सामग्री के आधार पर ही किया जाय। यह अधिक ठोस, परिचयात्मक, निश्चयात्मक तथा वैज्ञानिक आधार प्रतीत होता है। पर यहाँ स्पष्टता को और भी व्यक्त करने के लिए अभिलेखों के नायक, प्राप्ति स्थान, सामग्री के साथ वर्ग का उल्लेख करना चाहिए। इससे पूर्ण बात स्पष्ट हो जायगी, यथा समुद्रा की प्रयाग प्रशस्ति स्तम्भ लेख कहने मात्र से स्पष्ट हो जायगा कि समुद्रगुप्त नामक राजा से सम्बन्धित प्रयाग नामक स्थान में स्तम्भ के ऊपर एक प्रशस्ति अंकित की गयी है। ऐसा नामकरण करने से विभाजन का उद्देश्य स्पष्ट हो जायगा कि श्रोता अभिलेख की मूलभूत विशेषताओं से उसका नाम सुनते ही परिचित हो जायगा।

अभिलेखों के प्रकार

धर्मशास्त्रों में भी अभिलेखों की चर्चा करते हुए इसके प्रकारों का उल्लेख किया गया है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने विषय प्रस्तुतीकरण के आधार पर इनको दो श्रेणियों में विभक्त किया है—विशिष्ट और संग्रहाकार। विशिष्ट कोटि में दो प्रकारों का उल्लेख किया गया है—लौकिक और राजकीय। राजकीय की भी चार कोटियाँ बताई गई हैं—शासन (भावी राजाओं की जानकारी के लिए भूमि के दान आदि का उल्लेख जब कोई राजा कराता है), जय-पत्र (किसी भी प्रकार के विजय के उपलक्ष में प्रमाण स्वरूप दिया गया लेख); आज्ञापत्र (जो अधीनस्त सामन्तों या अधिकारियों को आदेश दिया जाता है) तथा प्रज्ञापन (जिसके द्वारा अभ्यर्थियों के कार्य सम्पन्न होते हैं) किन्तु यह बहुत अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्म विभजन नहीं है। अतः पाण्डेय जी ने आगे इसका वैज्ञानिक विभाजन भी किया और नौ प्रकार के अभिलेखों की प्राप्ति की चर्चा की है। ये नौ प्रकार निम्न हैं—

(अ) व्यापारिक लेख—डॉ० पाण्डेय ने सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरों को व्यापारिक अभिलेख बताया है। उसमें अंकित लेख पढ़े नहीं जा सके हैं। अतः कुछ निश्चयपूर्वक कहना तो बड़ा असम्भव है

किन्तु विद्वानों का यह विचार है कि इनपर व्यापारियों के नाम तथा उनकी उपाधियाँ अंकित हैं। ये पार-पत्र के रूप में प्रयोग की जाती होंगी जब यहाँ के व्यापारी विदेशी व्यापार के लिए जाते होंगे। कुमार गुप्त और बन्धु वर्मा का मन्दसोर प्रस्तर अभिलेख भी इसी कोटि का है। इसके अतिरिक्त मिट्टी की बहुत-सी मुहरें विभिन्न स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुई हैं जो वस्तुओं पर क्रय-विक्रय की सुरक्षा तथा गोपनीयता को बनाये रखने के लिए लगाई जाती थीं।

(ब) **तांत्रिक लेख**—इस प्रकार के अभिलेख सर्वप्रथम सिन्धु घाटी में प्राप्त होते हैं। वहाँ की मुहरें जिनके ऊपर छिद्र बने हैं, कुछ इसी प्रकार की हैं। इन छिद्रों में सम्भवतः तागा पिरोकर पहनने का काम किया जाता होगा। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ये ताबीज रहे होंगे जिन्हें अभिमन्त्रित करने के लिए मूर्तियों के नीचे गाड़ा जाता होगा क्योंकि बहुत से ठिकरे सिन्धु घाटी में मूर्तियों के नीचे से निकाले गये हैं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उनपर अनेक प्रकार की विचित्र पशु आकृतियाँ बनी हुई मिली हैं।

(स) **धर्म लेख**—अशोक के अभिलेखों को धम्म लिपि कहा जाता है। इसके चौथे शिला लेख की ये पंक्तियाँ 'तिन अमुतपदानि इअ सु-अनुठितानि। नेयंति स्वगं दय चाग अप्रमाद' इस बात की स्पष्ट परिचायक है कि अशोक धर्म के सम्बन्ध में इन्हें लिखवाया था। विदिशियों से प्राप्त हेल्योदोरस का गरुड़-ध्वज लेख इसका और भी अधिक पुष्टि प्रमाण है। इस गरुड़-ध्वज से ज्ञात होता है कि यूनानियों में भी वैष्णव धर्म का प्रचार होने लगा था। इस प्रकार जहाँ ये अभिलेख धार्मिक भावना को पुष्टि करते हैं वहीं धर्म के सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

(द) **प्रशासनिक लेख**—गुप्त पूर्व शासकों के काल में प्रायः धार्मिक भावना से प्रेरित ही अभिलेख खुदवाये जाते थे। ये शिला-थम्भ, शिला-फलक तथा मूर्तियों के पीठ या पदाधार पर खुदवाये जाते थे। इसमें प्रायः शासकों के नाम तथा उसका मन्तव्य मात्र होता था। इनमें कतिपय स्थानीय भावना से सम्बोधित होते थे। उन्हें जहाँ कार्यान्वित करना होता था वहाँ के अधिकारी को सम्बोधित होता था, जैसे अशोक ने तोशली के महामात्र को सम्बोधित किया है। कभी-कभी इनके अंकन का उद्देश्य भी स्पष्ट किया जाता था जैसे हेल्योडोरस के अभिलेख में अंकित है कि—'देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते'—देवाधिदेव वासुदेव के निमित्त यह गरुड़ध्वज स्थापित किया गया। प्रसंगवत राजा की उपलब्धियाँ और जनकल्याणकारी कार्य का भी उल्लेख इनमें मिलता है जैसे अशोक की धम्मलिपियाँ—'देवानं पियपियदसि राजा.....' से प्रारम्भ होती है। इनमें कभी-कभी राजत्वकाल की भी चर्चा मिलती है, जैसे अशोक के एक अभिलेख में अंकित है—'दुवाडस वसा भिसितेन में.......' गद्दी पर बैठने के बारह वर्ष बाद। कभी-कभी पड़ोसी राजा और उनकी स्थिति का भी ज्ञान इससे मिलता है जैसे अशोक के एक अभिलेख में उसकी सीमा के बाहर पश्चिम तथा दक्षिण के राजाओं और राज्य का उल्लेख है। इसी प्रकार हेल्योडरस का गरुड़ध्वज लेख का—'कौत्सीपुत्रभागभद्रस' भी इसी ओर संकेत करता है कि तब मथुरा में कौत्सीपुत्र भागभद्र का शासन था जब तक्षशिला में यवन शासक अन्टीअलकाइडस था तथा दोनों के बीच दौत्य सम्बन्ध था। अशोक ने अपने अनेक लेखों में अपने अधिकारियों को सम्बोधित करके आदेश दिया है कि उन्हें इस प्रकार के नियमों का पालन करना चाहिये। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख है। इसमें सुदर्शन झील के निर्माण का इतिहास है तथा रुद्रदामन का यह दृष्टिकोण ज्ञात होता है कि जनता से लिया हुआ कर ही जनता के उपयोगी तथा हित में आना चाहिए। हर्ष के बाँसखेड़ा अभिलेख में तत्कालीन अधिकारियों को आदेश दिया गया है। इसी प्रकार का पूना ताम्रपत्र अभिलेख प्रभावती गुप्त का है।

(य) **प्रशस्तियाँ**—प्रशस्ति का अभिप्राय है प्रशंसा, गुणगान आदि। जो भी प्रशस्तियाँ प्राप्त हुई हैं वह दो प्रकार की हैं—एक में केवल राजा की प्रशंसा की गई है तथा दूसरे में दान आदि का उल्लेख किया गया है और उसके साथ राजा का गुणगान भी मिलता है। प्रथम प्रकार की प्रशस्ति में राजा का यशगान इसकी कीति के साथ मिलता है। हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति इसी प्रकार की कृति है। इसमें समुद्रगुप्त के दरबारी हरिषेण ने समुद्रगुप्त के विजय, चरित्र, नीति, धार्मिक धारणा, व्यक्तिगत रुचियों, परिवार और गौरव आदि का उल्लेख किया है। इसी प्रकार का दूसरा अभिलेख खारवेल का हाथी-गुम्फा से प्राप्त हुआ है। इसमें खारवेल का चरित्र तथा उसके कार्यों का वार्षिक विवरण दिया गया है। अशोक का 13वाँ शिलालेख भी इसी कोटि में परिगणित किया जा सकता है। इन प्रशस्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनके लिखने का निश्चित क्रम साधारणतया निर्धारित था। इसमें सबसे पहले वंशवृक्ष दिया जाता था, उसके बाद राजा का चरित्र और फिर उसकी उपलब्धियों का विवरण होता था और तब समकालीन राज्यों का उल्लेख किया जाता था तथा राजा का आदर्श और उसकी शासन व्यवस्था का विवरण होता था। इसके पश्चात उसकी व्यक्तिगत रुचि तथा दानशीलता आदि का भी उल्लेख किया था। किन्तु इस क्रम में अन्तर भी हो सकता था। कभी-कभी इसमें कुछ बातें छोड़ दी जाती थीं जैसे मेहरौली का चन्द्र अभिलेख भी यद्यपि प्रशस्ति है पर उसमें वंशवृक्ष आदि बहुत ही बातें नहीं दी गई हैं। प्रशस्ति होने के कारण इनमें अतिरंजना का होना स्वाभाविक है। ये लेख प्रायः पद्यात्मक, कभी गद्यात्मक और कभी चम्पू में रचे गये हैं। तत्कालीन परिस्थितियों का भी उल्लेख इनमें प्रसंगवत मिलता है यथा—जूनागढ़ अभिलेख में खुदा है—'पितरिदिवभ्युपेते विप्लतां वंश लक्षमीम्'। प्रसंगवत तिथियों का भी इसमें उल्लेख मिलता है।

(र) **समर्पणात्मक लेख**—कभी-कभी मूर्तियों पर, गुहा की दीवारों पर, मन्दिरों तथा धातु पत्रों पर कुछ लेख खुदे हुए मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे अमुक धर्मानुयायियों को समर्पित किये गये हैं। पिपरहवाँ का धातु पात्र लेख गौतम बुद्ध के धातु विशेष के समर्पण का उल्लेख करता है। कुछ में किसी धर्मानुयायी को आवास, धन, भोजन तथा अन्य सुविधाओं के लिए दान, भूमि तथा ग्राम दान का वर्णन है। इस प्रकार के अभिलेखों के लिखने में किसी निश्चित शैली का प्रयोग नहीं किया जाता था। बराबर पहाड़ियों में अशोक का अभिलेख उसके गुहादान को सम्बोधित करता है। इसी प्रकार का अशोक के पौत्र दशरथ का लेख नागार्जुनी गुफाओं में मिलता है। हुविष्क का मथुरा अभिलेख धार्मिक कार्य के लिए धन के अनुदान की चर्चा करता है। उषवदात्त के नासिक अभिलेख में तीन सहस्त्र गौदान की चर्चा की गई है। वासिष्ठिपुत्र पुलमावी के नासिक अभिलेख में भूमिदान की चर्चा की गई है।

(ल) **स्मृत्यात्मक लेख**—रूम्मनदेई आधुनिक लुम्बिनी नामक ग्राम में अशोक का एक अभिलेख है। इस पर अंकित है—'हिद बुद्ध जाते साक्यमुनीति।' अर्थात् (यहाँ बुद्ध, शाक्यमुनि उत्पन्न हुए थे)। इसका अभिप्राय है कि बुद्ध भगवान के जन्म स्थान पर उनके जन्म की स्मृति में यह अभिलेख अंकित कराया गया था।

(व) **साहित्यिक लेख**—कुछ लेख इस प्रकार के हैं जिन्हें शुद्ध साहित्यिक कृति माना जा सकता है। इसमें साहित्य का उतार-चढ़ाव और साथ ही किसी साहित्यिक अवयव के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। ऐसे साहित्यिक अभिलेखों में नाटक, काव्य, संगीत तथा धार्मिक विवरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार का 'ललित विग्रहराज' नामक अभिलेख अजमेर से प्राप्त है। तमिलनाडु से एक ऐसा अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसे संगीत शास्त्र का ग्रन्थ कहा जाता है।

(श) **दान-शासन लेख**—उत्तरगुप्त शासकों के समय एक विशिष्ट प्रकार के लेख लिखे जाने लगे थे जिन्हें दान-शासन के नाम से जाना जाता है। चूँकि शासक इस अभिलेख को मूल रूप से दान देने के सन्दर्भ में खुदवाता था इसलिए इन्हें दान-शासन कहा जाता है। इस प्रकार के अभिलेख पाँचवीं शताब्दी के पूर्व के मध्यकाल तक मिलते हैं। ऐसे दान पत्र प्रायः ताम्रपट्टों पर अंकित कराए जाते थे। कहीं-कहीं शिला खण्डों पर भी इनके अंकित किये जाने का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु वह अत्यन्त ही न्यून हैं। इसको प्रायः ताम्रपट्टों पर देने का कारण यह रहा होगा कि दानग्राही इसको सरलतापूर्वक तथा सुरक्षात्मक रीति से अपने पास रख सकें वह स्थायी संपत्ति इसकी बनी रहे। कभी-कभी ये दान पत्र बड़े लम्बे होते थे।

इनको सुविधाजनक रीति से रखने के लिए इन्हें छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर छोटे-छोटे ताम्रपट्टों पर अंकित कर दिया जाता था और क्रमशः ताम्रपट्टों को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया जाता था। जोड़ने के लिए दानों ताम्र पत्रों के सिरे पर एक के नीचले तथा दूसरे के ऊपरी भाग पर छिद्र बना दिया जाता था और लोहे की मोटी कील से उसे जोड़ दिया जाता था जिससे पीछे की ओर नीचे वाले ताम्रपट्ट को घुमाया जा सके। यह एक प्रकार से आधुनिक पुस्तकों की सिलाई का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है जिससे ताम्र के दो या अधिक पृष्ठ साथ-साथ मिले होते थे। इस परम्परा का प्रारम्भ पाल नरेश धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है। पीछे प्रायः बिहार तथा बंगाल के अधिकांश अभिलेख इसी प्रकार के अंकित मिलते हैं जैसे कमौली (वारणसी) का ताम्रपत्र, गहड़वाल नरेशों का बांसखेड़ा (शाहजहाँपुर) तामपत्र, नालंदा (पटना, बिहार) ताम्रपत्र, वैग्राम (बंगाल) तामपत्र आदि।

दान-शासन का प्रारम्भ 'स्वस्ति', 'सिद्धम्' या 'ओंस्वस्ति' से होता है। यह शुभ सूचक शब्द है जिनका प्रयोग आज भी चिट्ठी लिखने के पहले किया जाता है। इसके बाद लेख का मूल पाठ प्रारम्भ होता है।

मूल पाठ में प्रमुख रूप से निम्न बातों का उल्लेख मिलता है—

(अ) दान पत्र के जारी करने का स्थान

(ब) शासनकर्त्ता और उसकी वंशावली तथा उपलब्धियों का उल्लेख

(स) दानग्राही के वंश का विवरण

(द) दान की भूमि और उसकी चतुर्दिक सीमाएँ

(य) दान का प्रयोजन और तत्सम्बन्धी निर्देश

(र) कर और पदाधिकारियों को आदेश

(ल) तिथियों का अंकन

(व) धार्मिक श्लोक

दान पत्र में यह अंकित किया जाता है कि यह कहाँ से जारी किया गया है जैसे हर्ष का बांसखेड़ा अभिलेख जयस्कन्धावार से जारी किए जाने का विवरण देता है। फरीदपुर ताम्रपट्ट वारक मण्डल के कार्यालय से जारी किए जाने का उल्लेख करता है। इसके साथ राजा या दाता के वंशवृक्ष का परिचय देते हुए उस काल के शासनकर्त्ता तथा उसकी उपलब्धियों की चर्चा मिलती है। हर्ष के बांसखेड़ा ताम्रपत्र से उसकी पूरी वंशावली ज्ञात होती है तथा राजा की उपलब्धियों का परिचय मिलता है।

उसी प्रकार खालीमपुर दानपत्र से पाल वंश के शासकों का वंश वृक्ष धर्मपाल तक तथा उसकी उपलब्धियाँ और तत्कालीन सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान मिलता है। यहाँ यह भी दिया जाता है कि यह भूमि क्रय करके या अपनी सम्पत्ति को दान में दिया जा रहा है और इसकी सीमाएँ क्या हैं जिससे बाद में कोई विवाद नहीं खड़ा हो। इस दान के उपयोग का उद्देश्य भी उल्लेख इसमें किया जाता है जिससे स्पष्ट हो जाय कि दान देने का प्रयोजन क्या था ? इसीलिए बांसखेड़ा में अंकित है कि माता, पिता, भ्राता के पुण्य और यश की वृद्धि के लिए दान किया गया है—'पुण्यं यशोभिवृद्धये.......।' वैग्राम दानपत्र का कारण मन्दिर के रागभोग और सौष्ठव के लिए बताया गया है। इस दान के लागू रहने के काल को एक विशेष शब्द से सम्बोधित किया गया है—अक्षयनीवी। इसका अर्थ है कि इसका स्वरूप कभी क्षय न हो अर्थात् दाता यह चाहता था कि दान दी हुई सामग्री ग्रहीता के पास स्थायी रूप से बनी रहे। उसके बाद उसके वंशजों की परिस्थिति के बिगड़ने पर ऐसा न हो कि वे उसको फिर वापस करा लें। इसी भावना को और प्रभावक बनाने के लिए कभी एक और कभी कई श्लोक जोड़ दिए जाते थे जिसमें हर्ता को नरक का फल भोगने का भय दिखाया जाता था। पहाड़पुर ताम्रपत्र लेख में इसी आशय से पाँच श्लोक अन्त में दिए गए हैं, संक्षोभ के खोह ताम्रपत्र में चार श्लोक अंकित हैं और बांसखेड़ा में दो। इसमें दान की महत्ता का भी वर्णन किया जाता था। प्रायः इनमें ये पंक्तियाँ अवश्य रहती हैं—'स्वदत्तां परदत्तां यो हरेत वसुन्धराम्। सविष्ठायां भूमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते।' नरकेभय को दिखाने वाली यह पंक्ति भी प्रायः पाई जाती है—आक्षेपता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्।' अन्त में तिथि तथा संवत् का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो इसके जारी किए जाने की तिथि से दिए गए अधिकार को पुष्ट करती है। ये तिथियाँ कभी गुप्त संवत् में, कभी हर्ष संवत् में, कभी विक्रमी संवत् में प्रयोग की गई हैं। पर प्रायः गुप्त संवत् की तिथि ही इसमें अधिकांश मिलती हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात बड़ी स्पष्ट है कि ये सभी दानपत्र संस्कृत भाषा और गुप्तोत्तर कालीन ब्राह्मी लिपि में अंकित किए गए हैं।

अभिलेखों की लिपि तथा भाषा

अभिलेखों का सिलसिला भारतीय इतिहास में अशोक के समय से चलता हुआ दिखाई पड़ता है। यद्यपि सिन्धु घाटी में भी मिट्टी के ठिकरों पर अंकित लेख मिले हैं। इन लेखों में किस लिपि विशेष का प्रयोग हुआ है नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका अध्ययन समुचित रूप से अभी तक नहीं किया जा सका है। अनुमानतः इसे चित्र लिपि कहा जाता है। किन्तु इसका भारतीय लिपि शास्त्र के इतिहास में तब तक इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है जब तक की इसको प्रामाणिक रीति से पढ़ा नहीं जाय।

इसके बाद अशोक के काल से हमें व्यापक रूप से सम्पूर्ण भारत में अभिलेखों का चलन ज्ञात होता है। स्वयं अशोक के ही अभिलेख भारत के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हैं। इस अभिलेखों में दो प्रकार की लिपियों का मुख्यतः प्रयोग हुआ है—ब्राह्मी तथा खरोष्ठी। खरोष्ठी लिपि अशोक के राज्य के पश्चिमी भाग में प्रयोग की गई है तथा ब्राह्मी शेष भारत में। इन लिपियों के उद्भव तथा विकास की कथा का व्यापक अध्ययन पिछले अध्यायों में विस्तार से किया गया है। इसके अतिरिक्त अरामइक लिपि का प्रयोग इसके एक अभिलेख से ज्ञात होता है जो हाल में ही अफगानिस्तान से मिला है। पर इसे हम भारतीय अभिलेखों की प्रचलित लिपि स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इसका

यत्किंचित प्रयोग ही हमें प्राप्त होता है। इसके साथ ही ग्रीक अक्षर भी चंद विदेशी राजाओं के सिक्कों पर मिलता है। कभी-कभी अभिलेखों में भी ग्रीक लिपि का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु यह भी अत्यन्त न्यून है। मूलतः ब्राह्मी लिपि में ही प्राचीन भारत के अधिकांश अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो बदलते हुए अक्षरों में विभिन्न युगों में मिलते हैं। बदलते अक्षरों के आधार पर ब्राह्मी लिपि के स्पष्ट नामकरण के लिए वंश के साथ जोड़कर लिया गया है जैसे कुषाणब्राह्मी लिपि, गुप्तयुगीन ब्राह्मी लिपि आदि। इसके अतिरिक्त नवीं-दसवीं शताब्दी में आते-आते क्षेत्रीय लिपियों का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया जैसे तमिलनाडु में तमिल लिपि का प्रयोग प्रचलन आदि।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अशोक के समय में प्राकृत भाष का चलन था। उसके सभी लेखों में चाहे वे किसी भी लिपि के हों प्राँकृत भाषा ही प्रयोग की गई है। इसका कारण यह था कि अशोक के समय मगध की स्थानीय भाषा प्राकृत थी। इसे उसके राज्य की जनता आसानी से समझ सकती थी। परन्तु स्थान के अन्तर से इसमें भी किंचित अन्तर परिलक्षित होता है। अशोक के स्तम्भ लेखों की भाषा ठीक वही नहीं है जो शहबाजगढ़ी और मानशेहरा के शिलालेखों में तथा गिरनार के अभिलेखों में प्रयुक्त की गई है। इस अन्तर का कारण बोली का स्थानीय भेद ही बताया जा सकता है। इस आधार पर इस काल में तीन प्राकृत भाषाओं का चलन माना जा सकता है। उत्तर-पश्चिमी प्राकृत, पूर्वी प्राकृत और दक्षिण प्राकृत इनमें से बुद्ध का प्रवचन तो मध्य देशीय प्राकृत या (पूर्वी प्राँकृत) में अंकित किया गया था। अशोक के अभिलेख भी मूलतः इसी भाषा में हैं किन्तु स्थानीय अन्तरों के कारण उसके लेखों में ये विभेद उभरे हैं।

अशोक के बाद भी पहली शताब्दी तक प्राकृत भाषा का चलन मिलता है। उसके बाद संस्कृत का प्रयोग होना प्रारम्भ हो गया था। किन्तु ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के लिखे गये अभिलेखों की भाषा यद्यपि साहित्यिक प्राकृत है किन्तु उस पर संस्कृत का स्पष्ट छाप दिखाई पड़ता है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है हेल्यदोरस का विदिशा से प्राप्त गरुड़-ध्वज स्तम्भ लेख है। इसी समय दक्षिण भारत के जो लेख प्राप्त हुए हैं उनमें भी साहित्यिक प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण प्राप्त होता है। इनमें हम शक, सातवाहन राजाओं का अभिलेख देख सकते हैं। सातवाहन राजाओं के अभिलेखों की सबसे बड़ी विशेषता है इनकी प्राँकृत भाषा। यह भाषा प्रारम्भिक पल्लव शासकों से शासन काल तक चलती रही। इन अभिलेखों में कहीं-कहीं संस्कृत का स्वतन्त्र प्रयोग भी दिखाई पड़ता है, जैसे मथुरा से प्राप्त सोडास के अभिलेखों में संस्कृत के पदों का प्रयोग। कुषाण शासकों के अभिलेखों में भी इसी प्रकार का समिश्रण देखने को मिलता है।

किन्तु पहली शताब्दी से संस्कृत का प्रयोग अभिलेखों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यदि हम 150 ई० का लिखा हुआ रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख पढ़ें तो उसमें संस्कृत गद्य का बड़ा ही मनोहारी स्वरूप मिलता है। यद्यपि संस्कृत का स्पष्ट प्रयोग इसके पहले के कतिपय अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में हम धनदेव का अयोध्या अभिलेख ले सकते हैं। पर गुप्त काल से जो भी अभिलेख मिले हैं उनमें शुद्ध संस्कृत का प्रयोग प्राप्त होता है। साथ ही अलंकार और साहित्य का स्पष्ट प्रयोग इनमें दिखता है। वे पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों ही शैली में पाये गये हैं। चन्द्र का मेहरौली अभिलेख पूर्ण पद्यात्मक है जबकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख गद्य एवं पद्य दोनों से युक्त है।

इसके बाद के अभिलेखों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग दक्षिण भारत से होना प्रारम्भ हुआ। सबसे

पहली क्षेत्रीय भाषा है तमिल जिसका प्रयोग अभिलेख में किया गया है। तमिलनाडु में 8वीं और नवीं शताब्दी में इसका प्रयोग संस्कृत के साथ पल्लव राजाओं द्वारा प्रारम्भ हुआ। पर इसका प्रयोग कुछ तमिल गुफाओं में बहुत पहले से हम पाते हैं जिनकी तिथि दूसरी या तीसरी शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। आंध्र प्रदेश में तेलगू भाषा में अभिलेख छठी शताब्दी में लिखे जाने लगे तथा इसी समय के अभिलेख कन्नड़ भाषा में मैसूर क्षेत्र से भी पाये गये हैं। पर दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग बहुत बाद की देन है। 11वीं शताब्दी तक उत्तर भारत के अभिलेख शुद्ध संस्कृत में अंकित किये गये हैं। उसके बाद ही स्थानीय बोलियों का प्रयोग इसमें हमें मिलता है। इनमें भी अन्य बोलियों की अपेक्षा मराठी का प्रयोग अभिलेखों में अधिक प्राप्त होता है। फिर बंगला, उड़ीसा आदि की भाषाएँ भी अभिलेखों में देखने को मिलती है।

अभिलेख लिखने का अवसर

अभिलेखों के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम यह जानकारी प्राप्त करें कि प्रायः किन-किन परिस्थितियों में साधारणतया अभिलेख अंकित किये जाते थे क्योंकि न तो अभिलेख का अंकन किसी एक उद्देश्य से किया गया है और न किसी एक प्रकार के व्यक्तियों द्वारा कराया गया है। किन्हीं अभिलेखों में दान की चर्चा है तो किन्हीं में विजय की। इससे स्पष्ट है कि उल्लेख कराने का अवसर भिन्न-भिन्न रहा होगा। इसी प्रकार किन्हीं को राजाओं ने उत्कीर्ण कराया है, किन्हीं को कर्मचारियों ने और किन्हीं को श्रेष्ठियों ने।

अशोक के अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसने अनुशासन के लिए अपने कुछ अभिलेख मुद्रित कराये थे तभी कुछ को धम्मानुशासन कहा जाता है। इसके धर्म के सम्बन्ध में भी इनमें आज्ञाएँ दी गई हैं कि धम्म क्या है? उसके पुत्र पौत्रों को इनका पालन किस प्रकार करना चाहिए? कुछ उनके राज्यानुशासन है। इस प्रकार के अभिलेख तभी अंकित कराये जाते होंगे जब किसी अधिकारी विशेष को कोई आदेश देना होता होगा। वैसे एक स्थान पर वह आदेश देता है कि मैं इस प्रकार की आज्ञा देता हूँ कि जो भी कोई अपनी बात लेकर मेरे पास आवेगा उसका मैं तत्काल निर्णय कर दूँगा। पर मेरे 'परिषा' को यदि यह अनुचित लगे तो वह उसकी सूचना तत्काल हमको दे दें। मैं उसके निवारण की व्यवस्था करूँगा। इस प्रकार जब राजाओं को कोई व्यापक आज्ञा देनी होती थी तो वह उसके लिए लेख खुदवा देते थे।

बराबर की गुफाओं में कुछ लेख प्रियदर्शी नामक राजा द्वारा खुदवाए गए है। ये लेख गुफाओं को आजीवकों को दान देनेके लिए अंकित किये गये हैं। इसी प्रकार भरहुत तथा साँची के स्तूप के किनारे बनी वेष्टिनी पर दाताओं का नाम तथा श्रेष्ठी का सिर अंकित किया गया है। दामोदरपुर तथा बंगाल के अनेक अन्य स्थानों से अग्रहरा दान के उद्देश्य से खोदे गए अनेक ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। पाल नरेश देवपाल द्वारा नालन्दा विश्वविद्यालय के दान के अवसर पर खुदवाया हुआ नालन्दा ताम्रपत्र इसी कोटि का अभिलेख।

जब राजा किसी स्थान विशेष को जीतते थे तो प्रायः विजय-यात्रा के अवसर पर वे लेख उत्कीर्ण करा देते थे। इस प्रकार के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जैसे—पुलकेशिन द्वितीय का अयहोल अभिलेख, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव का भोर म्यूजियम प्लेट, वीरसेन शाव द्वारा उत्कीर्ण कराया गया चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का उदयगिरि गुहा लेख आदि।

राजाओं की प्रशंसा या गुणगान के अवसर पर भी लेख उत्कीर्ण कराया जाता था। इस प्रकार

का एक लेख प्रयाग में स्थित अशोक स्तम्भ से प्राप्त हुआ है जिस पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति अंकित है। 'चन्द्र' का मेहरौली अभिलेख भी इसी प्रकार की कृति कहा जा सकता है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय का गौरवगान मिलता है।

किसी विशेष घटना के अवसर पर भी कभी-कभी अभिलेख खुदवाए जाते थे। इस सन्दर्भ में हम रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख ले सकते हैं। इस अभिलेख का मूल विषय है सुदर्शन झील का रुद्रदामन द्वारा पुनर्निर्मित कराना। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में बन्धुवर्मा द्वारा अंकित कराया गया मन्दसोर अभिलेख है जिसके अंकित कराने का अवसर है वहाँ मग ब्राह्मणों द्वारा सूर्य मन्दिर का निर्माण कराना।

कभी-कभी धार्मिक प्रचार के लिए भी अभिलेखों को खुदवाया जाता था। अशोक की धम्मलिपियाँ इसी उद्देश्य से लिखी गई हैं। अशोक ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं इन्हें स्थान-स्थान पर इसलिए खुदवाता हूँ कि लोग इनको बार-बार पढ़ें और इसमें निर्देशित तथ्यों का पालन करें। सम्भवतः इसी उद्देश्य से हेल्योदोरस नामक यवन दूत ने मथुरा में गरुड़-ध्वज की स्थापना की थी।

कुमारगुप्त प्रथम के भीतरी मुद्रा अभिलेख में केवल उसका वंशवृक्ष दिया गया है लगता है कि वंश का परिचय देने के लिए भी कभी-कभी राजा लोग लेख उत्कीर्ण करवाते थे।

संस्कारों के अवसरों तथा त्योहारों पर भी लेख खुदवाने का चलन था। इस प्रकार के लेख मध्यकाल में बहुतायत से मिलते हैं। गढ़वाल नरेश जयचन्द ने अपने राजकुमारों के जन्म तथा चूड़ाकर्म के समय बहुत अधिक दान दिया था एवं उसके उपलक्ष में लेख भी अंकित कराया था। गहड़वाल तथा कलचूरी नरेशों में माता-पिता के श्राद्ध के अवसर पर बहुत अधिक दान देने का चलन था। वे इस अवसर पर दान की पुष्टि में अभिलेखों को उत्कीर्ण कराते थे। इसी प्रकार हिन्दू त्योहार जैसे— संक्रान्ति, अक्षय तृतीय, रामनवमी आदि के अवसरों पर भी दान देने का प्रचलन था। जो राजा ऐसे त्योहारों पर दान देते थे वे भी कभी-कभी इसके संबंध में लेख भी उत्कीर्ण करा देते थे।

वैशाली लिछवियों का स्थान था। वह व्यापारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था। वहाँ उत्खनन में श्रेणियों द्वारा उत्कीर्ण करायी गयी अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं। आर्थिक वृद्धि के द्योतक अनेक सिक्के विभिन्न लेख युक्त पाये गये हैं। इन पर राजा का नाम उनकी विरुद उत्कीर्ण है। कई प्रकार के एक ही राजा के सिक्के इस बात के द्योतक हैं कि आर्थिक स्थिति की उन्नति के लिए वे चालू किये गये थे जिन पर भिन्न-भिन्न लेख उत्कीर्ण पाये गये हैं। इन प्रमुख अवसरों पर सामान्यतया लेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

अभिलेख लिखने के स्थान

यह तो स्पष्ट ही है कि कोई भी राजा अपना अभिलेख अपने राज्य के अन्तर्गत ही खुदवाता या गड़वाता है। किन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि अपने राज्य के बाहर भी कुछ राजाओं ने अपने अभिलेख स्थापित कराये हैं जैसे—हेल्योदोरस नामक यवन शासक का कर्मचारी अन्टीअल्काइडस वादिशा में गरुड़-ध्वज की स्थापना कराया था तथा उस पर उसका लेख खुदा हुआ मिलता है। इसी प्रकार अशोक का एक अभिलेख अरमेइक भाषा में अफगानिस्तान में मिला है। परन्तु ऐसे अभिलेख अत्यन्त न्यून हैं और जो हैं भी वे किन्हीं सार्थक आधारों पर स्थापित किये गये हैं। पर यह भी विचारणीय है अपने राज्य में विभिन्न स्थानों पर कोई भी राजा अपना अभिलेख

अंकित कराता था उसके अंकित के पीछे घटना का चाहे जो भी महत्त्व रहा हो स्थान का महत्त्व भी रहता था।

अशोक के स्तम्भ लेख उसके राज्य की सीमा प्रदेशों पर अंकित कराये गये हैं जैसे—शहबाजगढ़ी, मानशेहरा, कालसी, धौली, जौगड़, सोपारा आदि। उसने इनकी स्थापना का आशय भी स्पष्ट किया है कि मैंने सीमा प्रदेशों पर इसलिए इनको अंकित कराया है कि हमारे सीमा के बाहर रहने वाले लोग भी हमारे विचारों को बार-बार पढ़ें समझें और इसका अनुसरण करें। इसी प्रकार गुप्तबुद्ध, का दामोदरपुत्र ताम्रपत्र लेख पूर्वी बंगाल के दिनाजपुर जिले से प्राप्त हुआ है। यह बुद्धगुप्त की पूर्वी सीमा निर्धारित करता है तथा कुमारगुप्त के कलाईपुरी, वैग्राम, दामोदरपुर आदि अभिलेख इसकी पूर्वी सीमा के पास ही हैं। इसी आशय से सम्भवतः पल्लव नरेशों का तक्षशिला लेख, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख और नहपान का नासिक अभिलेख उक्त स्थानों से प्राप्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि सीमा प्रदेश पर कभी-कभी अभिलेख अंकित किये जाते थे।

अशोक के कुछ अभिलेख धार्मिक स्थानों से प्राप्त हुए हैं जैसे—लुम्बिनी, सारनाथ आदि। लुम्बिनी में भगवान का जन्म हुआ था। सारनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र परिवर्तन मुद्रा में प्रथम भाषण दिया था। अतएव दोनों स्थान भगवान बुद्ध से संबंधित हैं। इसलिए वहाँ अशोक ने अपने लेख अंकित कराये क्योंकि वह स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। इसी प्रकार वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण अयोध्या में धनदेव का अभिलेख मिला है क्योंकि वैष्णण धर्म से सम्बन्धित वह स्थान था। मथुरा भी वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। वहाँ से भी बहुत से अभिलेख प्राप्त हुए हैं। विभिन्न मूर्तियों के आधार पीठ पर जो लेख मिलते हैं वह भी इसी भावना की पुष्टि के परिचायक हैं कि धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होने के कारण धर्मस्थानों में जो मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं उन पर लेख भी अंकित करा दिया जाता था।

प्राचीन भारत में व्यापारिक मार्ग थे। उनसे भारत के दूर-दूर प्रदेशों की व्यापारिक मंडियों से जोड़ा गया था। इन व्यापारिक मार्गों में कुछ चौराहे बने थे। जहाँ मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे वहाँ विभिन्न दिशा से आने वाले यात्री तथा व्यापारी परस्पर मिलते थे। ऐसे प्रमुख स्थान के वैशाली, सांची, मन्दसोर, कौशाम्बी आदि थे। इसीलिए वैशाली में विभिन्न राजाओं की मुहरें, मन्दसोर में अभिलेख, सांची में स्तम्भ लेख और कौशाम्बी में अशोक तथा समुद्रगुप्त के लेख प्राप्त हुए हैं, जो अब प्रयाग में स्थित है।

राजा जब विजय के लिये प्रयाण करते थे तो कहीं-न-कहीं अपनी सेना का कैम्प लगाकर आक्रमण करते थे जिसे जयस्कन्धावर कहते थे। इन कैम्पों में जो अत्यन्त प्रमुख कैम्प होते थे वहाँ से राजा लोग विज्ञप्ति निकालते थे। ये विज्ञप्तियाँ अभिलेखों में अंकित कर स्थापित कर दी जाती थीं। इस प्रकार की एक विज्ञप्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरि गुफा में अंकित है। वहाँ लिखा है कि 'पृथ्वी जयार्थेन राज्ञीवै सहागतः।' इस प्रकार के लेख वल्लभी, बाँसखेड़ा, खालीमपुर तथा मुंगेर नामक स्थानों से भी प्राप्त हुए हैं।

राजधानी अथवा उसके पड़ोस के प्रमुख नगरों में प्रायः राजाओं के अभिलेख मिले हैं जैसे गुप्त राजाओं का कार्यक्षेत्र मूलतः बिहार था। इसीलिए बिहार के विभिन्न स्थानों से उनके लेख प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार उसके पड़ोस में उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के भीतरी नामक स्थान से प्रभावती गुप्ता, स्कन्दगुप्त आदि के लेख मिले हैं। लगता है यह भी प्रशासनिक महत्त्व का स्थान रहा होगा।

इसी प्रकार उत्तर-गुप्त शासकों के सम्बन्ध का अभिलेख गया तथा मौखरी शासकों का अभिलेख हरहाँ नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। तक्षशिला जो कुषाण राजाओं की राजधानी थी वहाँ से भी कुषाण अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

सांस्कृतिक महत्त्व के स्थानों पर भी राजा लोग अपने लेख अंकित करवाते थे। यह प्रायः दान सम्बन्धी होते थे। नालन्दा भारत का एक सांस्कृतिक स्थल था। यह शिक्षा का भी एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहाँ अनेक राजाओं द्वारा अंकित कराये गये अभिलेख प्राप्त हुए हैं। खजुराहो से प्राप्त लेखों को भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं।

विजित स्थानों अथवा ऐसे जगहों पर जहाँ कोई महत्त्व का काम किसी राजा के समय में किया जाता था तो वहाँ वह राजा लेख खुदवाता था। इसका कारण सम्भवतः रहा होगा कि उसकी यादगार बना रहे। इस सम्बन्ध में अशोक का कलिंग स्तम्भ लेख द्रष्टव्य है। उसकी स्थापना वहाँ कलिंग विजय के कारण ही की गई थी। इसी प्रकार दामोदरपुर में जो दानपत्र मिले हैं वह इसीलिए कि वहाँ बहुत बड़ी संख्या में राजाओं ने अग्रहारा दान दिया था।

इस प्रकार विभिन्न उद्देश्यों को लेकर स्थानों का चयन अभिलेखों को अंकित कराने के लिए किया जाता था।

अभिलेखों में कमियाँ

अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसको अशोक की तरह बहुत कम ही राजा अपनी ही देख-रेख में खुदवाये हों। प्रायः दरबारी, सामन्त, राजकवि आदि स्वेच्छानुसार इसकी रचना करके उत्कीर्णक को दे देते थे जो उसे निर्दिष्ट स्थान पर उत्कीर्ण कर देते थे। इस रचना में रचयिता राजा का पक्षपाती व्यक्ति ही होता था। इसलिए वह घटनाओं का निष्पक्ष विवरण देते हुए भी अतिरंजना से बिलकुल निर्लिप्त रहता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः उसके गुणों के वर्णन में अतिरंजना का सहारा लेता ही होगा जिससे उसका स्वामी राजा उससे प्रसन्न हो जाय। यह मानव स्वभाव है। इससे वंचित होने वाला विरक्त कोई रचयिता होगा ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

लेखक राजा की वंशावली की चर्चा करता है। पर उसमें भी वंशानुक्रम का ही अनुकरण करता है, राज्यानुक्रम का नहीं। गुप्त अभिलेखों में देखते हैं कि श्रीगुप्त के बाद घटोतकच्छ, फिर चन्द्रगुप्त, तब समुद्रगुप्त और फिर चन्द्रगुप्त आदि का उल्लेख किया गया है। वहाँ रामगुप्त, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई था, उसका नाम लेखक ने छोड़ दिया है। सम्भवतः इसलिए कि चन्द्रगुप्त और रामगुप्त भाई थे जिनमें रामगुप्त अशक्त एवं क्लीव शासक था। इसी दोष के कारण रामगुप्त की ऐतिहासिकता आज भी इतिहासकारों के बीच एक विवाद की कड़ी बनी हुई है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति को लीजिए तो वहाँ समुद्रगुप्त की दिग्विजय का उल्लेख किया गया है। इस चर्चा में हरिषेण नामक कवि, जो इस लेख का रचयिता है, सबसे पहले उसकी दक्षिण-विजय की चर्चा करता है और बाद में उत्तर भारत की विजयों का वर्णन करता है। यह वास्तव में बड़ा अस्वाभाविक है कि एक शासक, जो इतना बड़ा राजनीतिज्ञ था कि दक्षिण में अपनी स्थिति समझने के कारण ही वहाँ के शासकों को जीतकर भी स्वतन्त्र कर दिया था, भला कैसे उत्तर में अपनी राजधानी को अरक्षित छोड़कर दक्षिण में विजय के लिए आया होगा। यह रचयिता का दोष ही प्रतीत होता है जो विद्वानों के बीच विवादास्पद समस्या बन चुका है कि इस शासक ने पहले उत्तर में विजय की थी अथवा दक्षिण में ?

कभी-कभी समस्तपद भी हमारे अध्ययन में कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं। समुद्रगुप्त का ही लेख लें तो वहाँ एक स्थल है 'पैष्टिपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्त'। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जाती है—पैष्टिपुर का राजा महेन्द्र गिरि तथा कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त अथवा पैष्टिपुर, महेन्द्रगिरि और कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त। इसमें कौन सत्य के अधिक समीप है यह स्वतः यह समस्या बन गई है। इसके निराकरण के अभाव में एक निश्चित धारणा प्रतिपादित करना बड़ा ही कठिन है।

गुप्तवंशीय शासन वृक्ष में स्कन्दगुप्त के बाद के राजाओं में कुमारगुप्त नामक एक राजा का ज्ञान मिलता है। इस नाम के स्कन्दगुप्त के बाद शासन करने वाले राजा के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं एक सारनाथ की बुद्ध मूर्ति के पदाधार पर अंकित है जिसमें गुप्त सम्वत् 154 है तथा दूसरा गाजीपुर के भीतरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ है जो तिथि विहीन है। यह बड़ा अनिश्चित है कि ये दोनों अभिलेख क्या एक ही व्यक्ति के हैं अथवा दो अलग-अलग व्यक्तियों के? इसी समस्या ने इतिहास जगत में झगड़ा खड़ा किया है कि स्कन्दगुप्त के बाद उत्तराधिकार क्रम किस प्रकार निर्धारित किया जाय। यदि दोनों अभिलेखों में राजाओं की तिथियाँ दी गई होतीं तो यह समस्या न उत्पन्न होती। इसी प्रकार की तिथि सम्बन्धी दूसरी समस्या है कि कुछ राजवंश जिनमें किसी सम्वत का प्रचलन नहीं था उनके भी अभिलेखों में तिथियाँ दी गई हैं किन्तु यह उल्लेख नहीं किया गया है कि वे किस सम्वत् से सम्बन्धित हैं। अतः उनकी वास्तविक गणना बड़ी ही दुरूह हो गई है। इस सम्बन्ध की तीसरी समस्या है कि बहुत दिनों तक किसी भी काल गणना का चलन नहीं था। उस समय अभिलेखों में किसी भी तिथि क्रम के उल्लेख का अभाव राजाओं या राजवंशों की काल गणना के लिए समस्या बन गई है।

ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख प्रायः अभिलेखों में मिलता है। किन्तु वहाँ संकेत मात्र ही उल्लेख किया जाता है जबकि उसका व्यवस्थित विवरण सर्वदा अपेक्षित है। इसका कारण यह है कि स्थान इतना सीमित होता है कि लेखक के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह तथ्य का व्यवस्थित विवरण दे सके। यही कारण है कि शक-सातवाहन अभिलेखों के अध्ययन से संकेत मात्र प्राप्त होता है कि दोनों के बीच युद्ध हुआ था। पर उस युद्ध का व्यापक वर्णन किसी एक अभिलेख में न होकर बिखरा पड़ा है, जिनको संजोकर तथा दूसरे स्रोतों से उनको पुष्ट करके ही इस सम्बन्ध में हम व्यवस्थित जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

कभी-कभी अभिलेख अधूरी बात कहकर मौन हो जाते हैं। वहाँ इतिहासकार के सम्मुख समस्या बन जाती है कि उसका व्यवस्थित ज्ञान कैसे प्राप्त करें। इस सम्बन्ध में हम मेहरौली के 'चन्द्र' नामक राजा को ले तो स्पष्ट होगा कि वहाँ इस राजा के विजय का वर्णन किया गया है किन्तु यह नहीं बताया गया है कि इसका पूरा नाम क्या था ? यह किस वंश का था ? इसके माँ-बाप कौन थे ? यह कहाँ का रहने वाला था ? तथा इसके शासन की तिथि क्या थी ? इसके अभाव में इतिहासकार बहुत दिनों तक अटकल लगाते रहे कि वह शासक चन्द्रगुप्त मौर्य था अथवा चन्द्रगुप्त प्रथम या द्वितीय में से था या पुष्करण का राजा चन्द्र था।

बादामी के महाकूट स्तम्भ लेख में चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन की विजय का उल्लेख किया गया है। उसने अंग, वंग, कलिंग, मगध, मद्रक, केरल, मूसक, पाण्डय आदि को इस विवरण के अनुसार जीता था। पर उसके लड़के पुलकेशिन द्वितीय के अयहोल अभिलेख में अपने पिता द्वारा किए गए विजयों की चर्चा में केवल नल, मौर्य और कदम्बो का ही उल्लेख है। इन विरोधी विवरणों में पुलकेशिन द्वारा की गई विजय का उल्लेख उचित प्रतीत होता है। सम्भवतः कीर्तिवर्मन के लिए उपर्यंकित अभिलेख

का वर्णन कल्पना मात्र ही रहा होगा। अतएव अभिलेखों के अध्ययन तथा एवं कल्पना के बीच पाठक को रेखा खींचना आवश्यक होता है।

कभी-कभी उत्कीर्णक के दोष के कारण अभिलेखों में दोष आ जाता है। इनमें कुछ अक्षर इतने अस्पष्ट तथा धुन्धले खुदे गये मिलते हैं कि उसके कारण पाठ को शुद्ध करना तथा उचित जानकारी प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसका स्पष्ट उदाहरण है स्कन्दगुप्त के समय पुष्यमित्रों के आक्रमण का उल्लेख जो उसके भीतरी स्तम्भ लेख में हुआ है। धुंधलेपन के कारण यह स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता कि वहाँ यवधेय मित्र अंकित हैं अथवा आमित्र अथवा पुष्यमित्र। जो भी तथ्य हो इतना तो स्पष्ट है कि मित्र नामान्त किसी शासक ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। यदि यह स्पष्ट अंकित होता तो इतिहास की यह गुत्थी सुलझाने में कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता।

उत्कीर्णक के दोष के कारण अभिलेखों में कभी-कभी ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है कि उस राजा या राजवंश के सम्बन्ध में जिसके लिये अभिलेख अंकित किया जा रहा है गलत जानकारी प्राप्त हो जाती है अथवा साथ-साथ विरोधी विचार मिलने लगते हैं।

किन्तु इन कमियों के कारण यह सोच बैठना कि अभिलेख महत्त्वहीन या भ्रामक विवरण देते हैं अत्यन्त निराधार है। ऐसी कमियाँ तो प्रायः प्रत्येक मानव निर्मित सामग्री में रहती हैं। इनको विवेक द्वारा परिषोधित करके इनसे तथ्य निकाल लेना ही अध्ययन की विशेषता है। समसामयिक होने के कारण ये किसी भी दूसरे स्रोत के अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा इसमें पाठ भेद वाला दोष जो साहित्यिक ग्रन्थों में बहुतायत से मिलता है, नहीं मिलता। अतः ये हमारे इतिहास के अध्ययन के अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

●

भारतीय पुरालिपी (प्लेट्स)

प्लेट संख्या-1

अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि

(स्वर)

अ
आ
इ
उ
ए
ओ
अं

(व्यंजन)

क
ख
ग
घ
च
छ
ज
झ
ञ
ट
ठ
ड
ढ
ण
त
थ
द
ध
न
प
फ
ब
भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह
क्ष

प्लेट संख्या–2

[मात्राएं]

आ

कि

की

कु

कू

के

कै

को

कौ

कं

ग्रा

म्हि

स्त

र्व

स्या

शि

स्टा

स्मा

तु

क

ले

स्वे

[संयुक्ताक्षर]

ट्टे

ढी

प्य

द्वै

ध्वी

प्लेट संख्या–3

रा सातवाहन राजाओं की लिपि पि

अ		न
अ		प
इ		ब
उ		भ
ए		म
ओ		य
क		र
ख		ल
ग		व
घ		स
च		ह
छ		वा
ज		रि
झ		पि
ञ		वी
ट		कु
ठ		ख्व
ड		तु
ढ		नु
ण		सु
त		भू
थ		[illegible]
द		ने
ध		म्हा

प्लेट संख्या–5

वाकाटक वंशीय राजाओं की लिपि

अक्षर

अक्षर	अक्षर
अ	म
आ	य
इ	र
उ	ल
ए	व
क	श
ख	ष
ग	स
घ	ह
च	रा
ज	ति
ट	मि
ड	ली
ण	पु
त	रू
थ	भू
द	कृ
ध	पे
न	पै
प	मो
ब	ग्रि
भ	ड्न

प्लेट संख्या–7

भारतीय खरोष्ठी लिपि

(स्वर)

अ
इ
उ
ए
ओ
अं

(व्यंजन)

क
ख
ग
घ
च
छ
ज
झ
ञ
ट
ठ
ड
ढ
ण
त
थ
द
ध

(व्यंजन)

न
प
फ
ब
भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह

(मात्राएँ) (मात्रा)

कि (कि=)
खि
गु (उ=)
कु
वे (ए=)
ये
यं (अं=)
यं
नो (ओ=)
यो

(इसमें दीर्घ मात्राएँ नहीं होती हैं)

प्लेट संख्या–8

हर्ष के दान पत्र में संयुक्त अक्षर

ष्ट
च्च
ट
प
ह
क्ष
प्त
प्र
प
म
रा
ला
श्री

प्लेट संख्या–9

अनुवाद :

1. देवानं पिये पियदसिलाज हेवं आहा सुडविसति वस, भिसितेन में इयं
2. धमलिपि लिखापिते हिदत पालते (दु) संपटिपादये अंनत अगाया धमका (म) ताया
3. अग (।) य पलिखाया अगाय सुसूयाय अगेन भयेना अगेन उसाहेना एस चु खो मम
4. अनुसथिय धमापेखा धमकामता च सुवे सुवे बढ़िता बढिसति चेवा पिलिसापि च मे
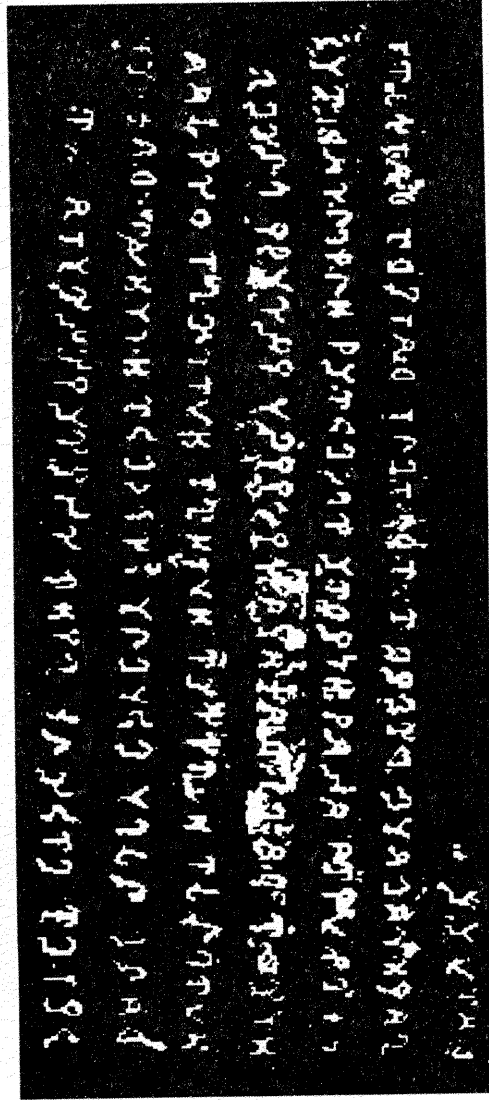
अशोक का प्रथम स्तम्भ लेख

5. उकसा च गेवाया च मझिमा चा अनुविर्धियंति सुपटिपादयंति चा अलचा पलं समाद पयितवे
6. हेमेवे अंत महामातापि एसाहिविधि या इयं धमेन पालना धमेन विधाने धमेन सुखियना
7. धमेन गोतीति

प्लेट संख्या–10

अशोक का पंचम स्तम्भ लेख

अनुवाद :

1. तीसु चातुमासीसु सुदिवसाये गोनेनोनीलिखितविये अजके एडके सूकले एवापि अने
2. निलखियति नो निलखितविये तिसायेपुनावसुने चातुमासिये चातुमासिपखाये अस्वसागोनसा
3. लखने नो कटविये या वसडुवीसति वसअभिसितेन मे एताये अहलिकाये पंनवीसति
4. बंधन मोखानि कटानि
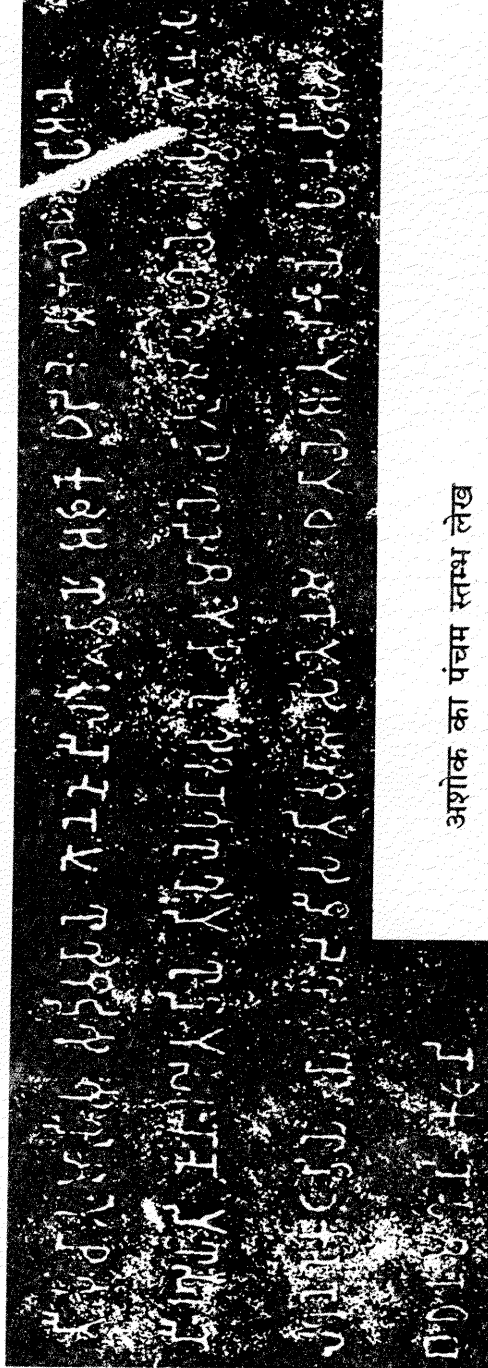
प्लेट संख्या–11
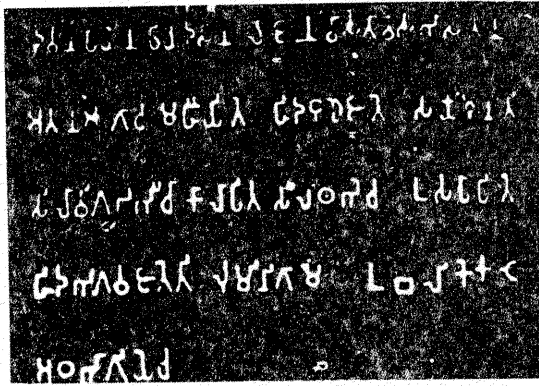
रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ लेख

अनुवाद :

1. देवानं पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
2. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते साक्यमुनी ति
3. सिला विभडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
4. हिद भगवं जाते ति लुमिनिगामे उवलिके कटे
5. अठभागिये च
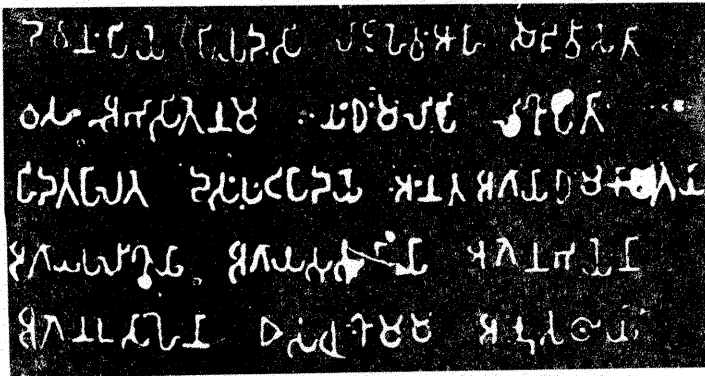
अशोक का देहली–टोपरा प्रथम स्तम्भ लेख

अनुवाद :

1. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा सडुवीसति
2. वस अभिसितेन मे इयं धमलिपि लिखापिता
3. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धर्मकामताया
4. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेना
5. अगेन उ़साहेना एस चु खो मम अनुसथिया

प्लेट संख्या–12

अनुवाद :

1. देवानं पियन पियदसिनो रञो अनुदिवसं ब
2. हूनि पाण सत सहसुनि अरभि सुपाथाय
3. से अज यदा अयं धंमलिपि लिखिता रि (× ती) एव पा
4. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सोपि
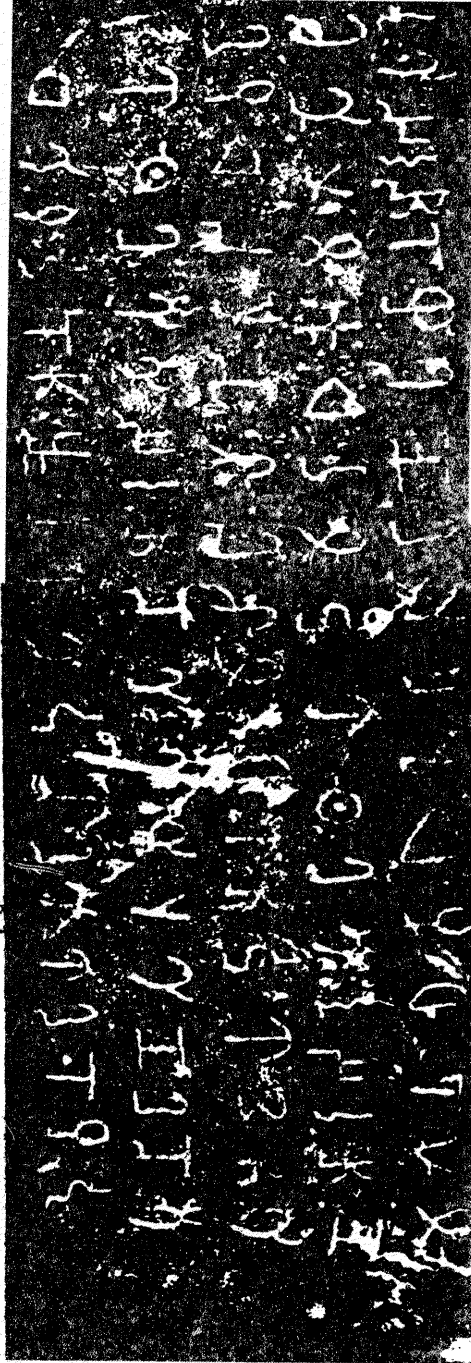
अशोक का प्रथम शिलालेख

5. मगो न धूवो एते पित्री पाणा पछा न आरभिसेर

प्लेट संख्या—13

(I)

तेरसु लिखिते पुऽन वलतेरए

(II)

बुधस कोनाकमंजस बुधे दुतियं वढिते

(III)

1. वासिस भिखुस पुगुलस

2. सवबुधानं पुजाये शिला का (र)

(IV)

शाला प्राचीनीकन सरुकमान पुत्रेण खरासले

प्लेट संख्या–14

अनुवाद :

1. देव देवसवा वसगरुड़ध्वजे अयं
2. कारिते इ हेलिओदोरेण भाग
3. वतेन दियस पुत्रेण तख्वसिलाकेन
4. योनदूतेन गतेन महाराजस
5. अंतलिकितस उपता सकास रञो
6. ..सीपु..स ग भद्रस त्रातारस
7. वसेन च-तुदसेन राजेन वधमानस
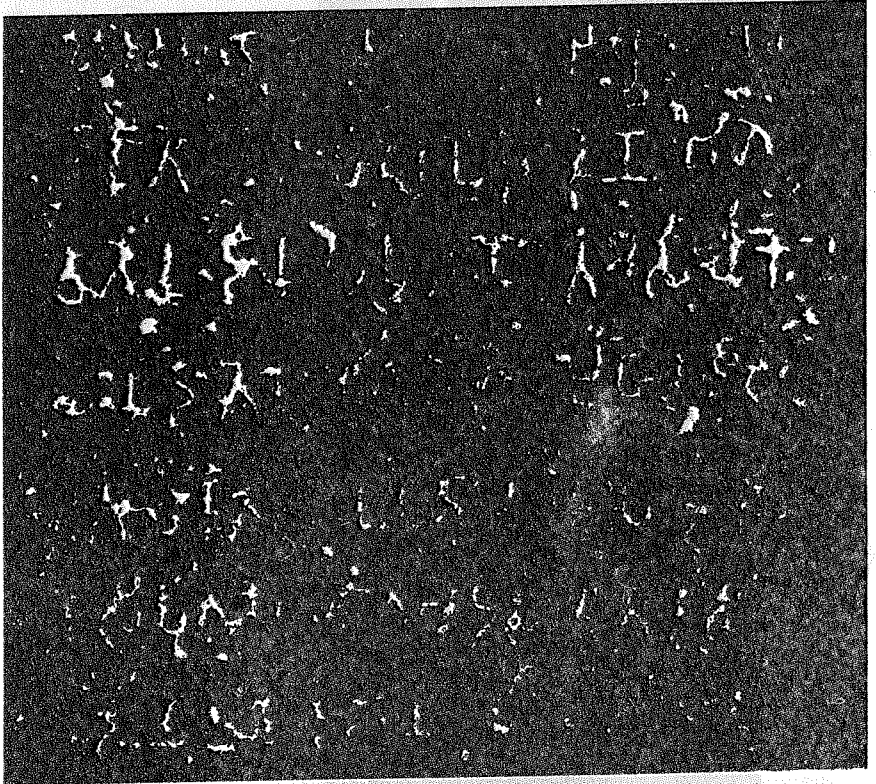
बेसनगर गरुड़ स्तम्भ लेख

प्लेट संख्या–15
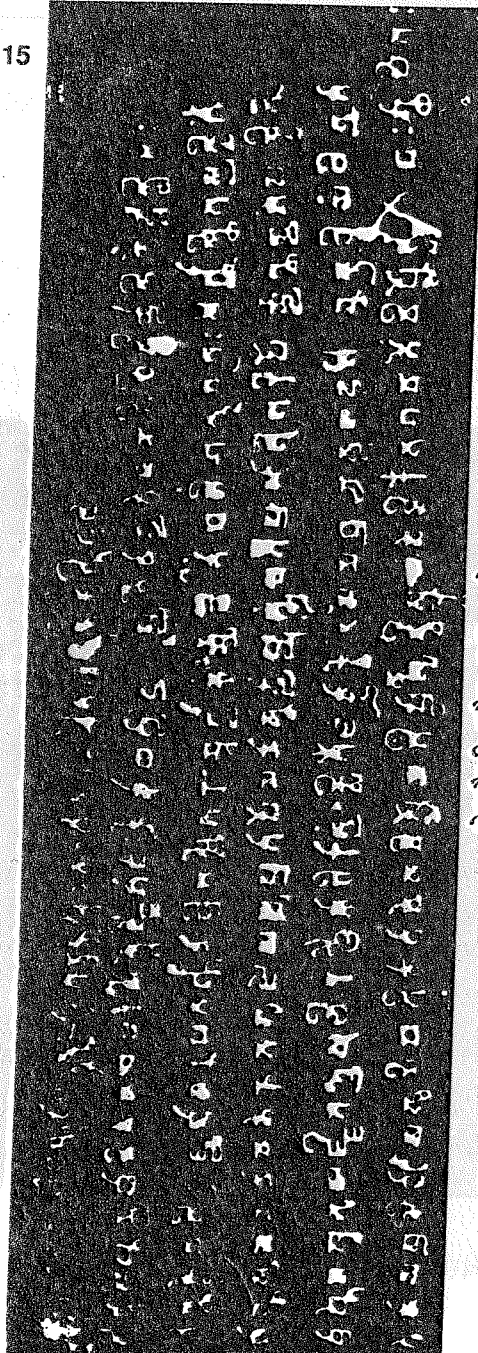
मेहरौली लौह–स्तम्भ लेख

अनुवाद :

1. यस्द्धर्तयतः प्रतीपमु-रमा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहववर्तिनोसभिलिखिता खड्गेन कीर्त्ति-जे।
2. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन-मरे सिन्धोर्जिता-वाह्लिका यस्याध्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्यानिलैर्द्दक्षिणः।
3. खि-न्नस्यैव विसज्या गां नरपतेर्ग्गाभाश्रितस्येतरां मूर्त् (त्) या कमर्मजितावनि गतवतः कीर्त् (त) या स्थितस्य क्षितौ।
4. शान्तस्यैव महावने हुतभुजौ यस्य प्रतापो महान्नाद्यप्युत्सृजति प्रणाशितरियोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिज्।
5. प्राप्तेनस्वभुजाज्जितञ्च सुचरितञ्चैकाधिराज्यं क्षितौ चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र-दृशीं बक्त्रश्रियं विभ्रता।
6. तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णो (ष्णौ) मति प्रान्शुञ्विष्णुपरे गिरौ भगवाते विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।

प्लेट संख्या–16

अनुवाद :

1. नगो महादेवाय (.............)
2. नुष्यातस्य चतुधुदधि सलिलास्वादित य (.............)
3. धिराज श्री कुमारगुप्तस्य विजयराज्य संवत्सर-शतेसप्तशोत्तरे–
4. कार्तिक मास दशम दिवस स्यान्दिवसपूर्व्वायां (...) वाजि
5. सगोत्र कुमा-र भट्टस्य पुत्रो विष्णुपालित-भट्टस्तस्य पुत्रो महरज
6. अधिजाजा श्री चन्द्रगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यमृत्तस्यपुत्रः
7. पृथ्वीषेणा महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्ये-न

प्रथम कुमार गुप्त का करमदण्डा लेख

8. नन्तरं च महाबलाधिकृतः भगवती महादेवस्य पृथ्वीश्वर इत्येवं समाख्यातस्या
9. स्यैव भगवतो यथाकर्त्तव्य धार्म्मकर्म्मणा पादशुश्रूणाय भगवच्छै
10. लेखश्वरस्वाभि महादेव पादमूले अयोध्यक नानागोत्रचरणतपः

प्लेट संख्या–17

विष्णुगुप्त का मंगराव अभिलेख

अनुवाद :

1. श्री महाराजाधिराज परमेश्वर श्री विष्णुगुप्त देव प्रवर्द्धमान विजय राज्ये
2. संवत्सरे गुप्तवंशे संवत् 110 (×) 7 श्रावण शुदि 2 चन्दस्थील तपोवन
3. प्रतिष्ठित श्री मित्र केशव देव प्रतिबद्ध पुष्पपट्टे स्वसिद्धान्तभिरत अने
4. कशिवसिद्धातन तीर्थावमाहने पवित्रो कृतः तनुः कट्टुकदेशी
5. य अविमुक्तजः अंगारग्राम के सकल कुटुम्बिनां सकासादा चन्द्रा
6. कीक्षिति समकालीनं तैलस्य पलमेकमुयकीय भगवतः
7. श्री सुमद्रेश्वर देवस्य प्रदीयार्थ प्रतिपादितवान एवं योन्यथा
8. करोति यदत्रापार्य स्तनदवाप्नोतीति लिखिता देवदत्तेने
9. संक्षिप्ता क्रमचीरिका उत्कीर्णा सूत्रधोरण कुलादित्येनधीमता

प्लेट संख्या–18

अनुवाद :

1. (...) स्वीस्ति—चतुरुदधि सलिल वीचि मेखलानिलीनायं सद्वीपा
2. गरपत्तनवत्पा वसुन्धराया गौप्ताब्दे वर्षाशतत्रये वर्तमाने
3. महाराजाधिराज श्रीशशंकाराज्ये शासति गगण तले
4. विमिसृता भगीरथावतारिताया हिमवादीरेर परि
5. पतनानेक शिला सहात विभिन्न वहि पातालान्तर्ज्जु लौधै

शशांक का गंजाम ताम्र-पत्र

6. सुरसरित इब विविध तरुवर कुसुम सञ्छन्नो भयतटा